इस उपन्यास के सभी पात्र
तथा घटनाएँ
काल्पनिक हैं,
किसी भी जीवित या मृत
व्यक्ति से
किसी भी तरह का
सम्बन्ध नहीं रखतीं।

हिरना सांवरी

मनहर चौहान

पहले संस्करण की भूमिका में से

'हिरना सावरी' को ले कर छत्तीसगढ में इतना वडा विवाद उठ खड़ा होगा, मैं ने नही सोचा था। मेरे इस उपन्यास पर पहला और सब से बड़ा आरोप यह लगाया गया कि इस की छत्तीसगढी बोली गलत है।

छत्तीसगढी बोली के सही या गलत होने का सवाल तब उठेगा जब मैं कहूं कि उपन्यास में छत्तीसगढी लिखी गई है। 'हिरना सावरी' उपन्यास हिन्दी का है और उस मे छत्तीसगढी बोली नही, छत्तीसगढी शब्दो का प्रयोग किया गया है। छत्तीसगढ के साहित्यकारों और पत्रकारों ने इसे नही पहचाना और कहना शुरू किया कि इस मे छत्तीसगढ़ी बोली है। इस दृष्टिकोण से उपन्यास की छत्तीसगढ़ी गलत ही लगेगी लेकिन यह उन की नजरो का दोष है, रचना का नही।

विशुद्ध छत्तीसगढी लिखी जाएगी तो अखिल भारतीय स्तर पर उपन्यास कैसे पढा जाएगा? छत्तीसगढ का साहित्यिक वर्ग क्यो चाहता है कि छत्तीसगढ़ से सम्वन्धित कोई चीज एक खास दायरे से बाहर जाए ही न?

जीवन की गति ज्यो-ज्यो तेज होती जा रही है, ऐसे साहित्य की उपयोगिता (पठनीयता के सदर्भ मे) घट रही है जिसे सप्रयास पढना पड़े। इसी से इस उपन्यास मे छत्तीसगढी शब्दो के द्वारा केवल संस्पर्श दिया गया है। सम्भव है कही कोई पूरा वाक्य छत्तीसगढी ('शुद्ध') म दिखाई पड़ जाए। उसे मैं इस लिए लिख गया होऊंगा कि उसमें हिन्दीपन वहुत होगा।

'रेणु' ने पूर्णिया जिले की भाषा प्रायः शुद्ध रूप मे लिखी तो लोगो

ने उसे बोझिल कह दिया। अब मैं ने उपन्यास में ऐसी भाषा रखी जिस में हिन्दी ज्यादा, छत्तीसगढ़ी कम है, तो उसे भी गैर-जिम्मेदारी का काम कह कर दुतकार दिया गया। आंचलिकता (भाषा सम्बन्धी) का आखिर कौन-सा रूप होना चाहिए फिर?

प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाओं का हिन्दी से गहरा साम्य है। कई बार इन भाषाओं में ऐसे शब्द भी मिल जाते हैं जिन की अभिव्यक्ति का पनापन विशुद्ध हिन्दी के किसी भी शब्द में न मिलेगा। सफल या अच्छी भाषा वही है जो विना किसी हिचक के अच्छे शब्दों को जहां से और जब भी हो सके, अपने लिए उठा ले। कभी-कभी शब्द अपने मूल (प्रादेशिक) रूप में ही हिन्दी में खप सकते हैं और कभी उन में किंचित् परिवर्तन की आवश्यकता भी अनुभव की जा सकती है।

'हिरना सांवरी' लिखते समय यही बात मेरे सामने थी कि छत्तीसगढ़ी बोली के कुछ (या कई) शब्दों को हिन्दी पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया जाए। 'हिरना सांवरी' एक प्रयोग है। छत्तीसगढ़ के साहित्यिक वर्ग तथा जनसाधारण में उसे असफल माना जा सकता है (मैं नहीं मानता) लेकिन यह कैसे कहा जा सकता है कि मैं ने छत्तीसगढ़ी बोली का अपमान कर दिया? बिलासपुर के एक पत्रकार ने यहां तक लिखा कि मनहर चौहान छत्तीसगढ़ी बोली का छिपा दुश्मन है जो विशाल पैमाने पर छत्तीसगढ़ी पर कीचड़ उछाल रहा है (जैसे कि सुनियोजित षड्यंत्र हो!) और छत्तीसगढ़ के साहित्यकारों-पत्रकारों को सावधान हो जाना चाहिए।

छत्तीसगढ़ी लचीली बोली है। हर पांच-सात मील में बोली में फर्क आ जाता है। उस का कौन-सा रूप स्थिर माना जाए?

समझौते के रूप में एक प्रस्ताव मेरे सामने यह रखा गया था कि मैं -से-कम संवादों में तो अवश्य विशुद्ध छत्तीसगढ़ी रखूं और उसे फुटनोट दे कर हिन्दी में समझा दूं। याने पुस्तकाकार प्रकाशन होने पर प्रायः

हर पृष्ठ का चौथाई से ज्यादा हिस्सा फुटनोट्स में चला जाए। पाठक मूल पढ़ेगा या फुटनोट्स ?

दूसरा आरोप जो मुझ पर लगा है, वह यह कि अगर उपन्यास में से छत्तीसगढ़ी शब्द निकाल दिए जाए तो उपन्यास छत्तीसगढ़ विषयक नहीं रह जाएगा। मैं इस आरोप को अस्वीकार करता हूं। मात्र भाषा या शब्दों के प्रयोग से ही कोई उपण्यास आंचलिक नहीं हो जाता। उस के लिए उसे धरती के संस्कारों की गहराई में जाना होता है। छत्तीसगढ़ में अशिक्षा, अंधविश्वास, धन का असंतुलित विभाजन तथा नारी शरीर की सहज सुलभता है और साथ-साथ है गावों का शहरों से संघर्ष। बेकारी के कारण गाव टूट रहे हैं और शहरों में खुली गंदगी है। 'हिरना सांवरी' के पात्र इन्हीं सब के प्रतीक हैं।

...और अब, तीसरे संस्करण के समय

विरोधों-अन्तर्विरोधों के बावजूद पाठकों ने इसे पसंद किया है। तीसरा संस्करण होना पाठकों का मेरे प्रति स्नेह का ही प्रमाण लगा। आभार।

एल-३४, कीर्तिनगर, —मनहर चौहान
नई दिल्ली-१५

एक था गांव'''करसरा। मैं वहीं रहती थी।

मैं दाई-ददा (माता-पिता) की इकलौती बेटी थी। बड़ी मानताओं के बाद पैदा हुई थी मैं। गांव से लगभग दो मील की दूरी पर बाबा सिद्धनाथ का मन्दिर था। विवाह के पांच साल के बाद भी जब कोई सन्तान न हुई तो ददा ने हर शनिवार को वहां जाना शुरू कर दिया। कभी-कभार जब घर का काम ज्यादा न होता तो दाई भी उन के साथ चली जाती। दोनों के हाथ में एक छोटी-सी कटोरी में गेहूं, बाजरे या चने का आटा होता जिसे वे रास्ते में पड़ने वाले चींटियों के हर बिल पर छिड़कते चलते। चींटियां अपने छोटे-छोटे मुंहों में आटा दबा कर खुश हो जातीं। पूरी राह पुन कमाते हुए ये दोनों बाबा के मन्दिर तक पहुंचते।

दाई अकसर मुझे बताया करती कि उन दिनों बाबा सिद्धनाथ का मन्दिर कितना खूबसूरत था। तब वहां बस्ती के नाम पर केवल एक छोटी-सी, नीची छत की अन्धेरी झोपड़ी थी जिस में मन्दिर का बूढ़ा पुजारी रहता था। उस ने मन्दिर के चारों ओर एक बहुत सुन्दर फुलवारी लगा रखी थी। लोग आते, बाबा को फूल चढ़ाते और जाते समय आटा, दाल, घी, चावल आदि पुजारी को दे जाते। इसी दान से पुजारी की रोजी-रोटी चलती। उसे किसी बात की परवाह न थी, सिवा इस के कि मन्दिर को ज्यादा-से ज्यादा खूबसूरत कैसे बनाया जाए।

मन्दिर के पास ही एक छोटा-सा कुआं था। कुए के पास पत्थर का एक कुण्ड था। कुण्ड का पानी पुजारी कभी चुकने न देता। पानी जरा-सा कम होता और वह तुरन्त उसे भर देता। मन्दिर के चारों ओर दूर-दूर तक खेतों का लहरीला फैलाव था। बरसात के दिनों में हरी फसलें मुसकराने लगतीं और मन्दिर की शोभा कुछ और होती। किसानों

के ढोर उस पत्थर के कुण्ड के पास आते, खुश हो कर थोड़ा रम्भाते, चसर-चसर पानी पीते। पुजारी उन के गले की ओर देखता रहता। पानी के घूंट गले की चमड़ी के नीचे से सरकते जिन्हें देख कर पुजारी गद्गद हो जाता।

अब मन्दिर की वह शान मर चुकी थी। पुराना पुजारी किसी बात से दुःखी हो कर एक रात चुपके से अपनी झोपड़ी छोड़ कर कहीं चला गया था। गांव की ओर से जो नया पुजारी वहां रखा गया था, वह आलसी था। उस के चेहरे से ही कुछ लम्पटता-सी टपकती। उस की उम्र भी कोई खास नहीं थी। कई बार मैं ने औरतों को आपस में फुस-फुसाते सुना था कि वह उन्हें चोरी-चोरी घूरता है, चोरी पकड़े जाने पर शरमाता भी नहीं है। ऐसी खबरें सुनाई पड़ने लगी थीं कि उस के आने के बाद बाबा सिद्धनाथ का सत चला गया है। बाबा की हर मानता पहले फल देती थी, अब एक लम्बे अरसे से मानताएं 'फोक' जा रही थीं।

ददा को बड़ी तसल्ली थी कि उन्होंने पुराने पुजारी के रहते ही मेरे पैदा होने की मानता कर ली थी। यदि उन्हें एक साल की भी देर हो जाती तो शायद मैं पैदा न होती। एक साल के बाद पुराना पुजारी चला गया था।

गांव की खुली हवा में पलने के कारण मेरी काठी बहुत मजबूत थी। मेरे चेहरे पर अजीब कुंवारापन पुता हुआ था। मैं कानों में लाख के लाल फूल पहनती थी। यों गांव की और टुरियाँ (लड़कियां) भी फूल पहनती थीं, लेकिन उन की जो खूबसूरती मुझ पर खिलती थी, उन पर नहीं। अभी मैं १४ साल की मुश्किल से हुई थी कि सारे गांव में चर्चा का विषय बन गई। वैसे मेरा नाम लछमी था, लेकिन मैं अपने-आप हिरना के नाम से प्रसिद्ध हो गई। हिरना नाम मुझे पसन्द भी खूब आया। कभी हम लोगों को गांव से बाहर जाने का मौका पड़ता तो मैं रास्ते के जंगलों में हिरनों को कुलांचे भरते देखती। क्या मेरी चाल में

२

"ओ हिरना ! हिरनू वो ! का कोती (किधर) चल दे ?"—मैं सहेलियों में बैठ कर गपें हांक रही थी कि अचानक दाई की आवाज आई।

शाम घिर चुकी थी। झोपड़ियों में से कण्डे का पीला-नीला धुआं वातावरण में उठ कर कुहरे की तरह जम गया था। कहीं-कहीं धुएं के बादलों ने झोपड़ियों को अपने में छिपा कर बिल्कुल गायब कर दिया था। पगडंडियां और गलियां अन्धेरे से लबालब भर गई थीं। धुएं ने उस अन्धेरे को और गाढ़ा कर दिया था।

"आई···ऽ···ऽ···!"—मैं जोर से चिल्लाई। सहेलियों से विदा ले कर मैं झोपड़ी की ओर चल दी जो दो नुक्कड़ों के बाद पड़ती थी।

पहले नुक्कड़ पर एक बड़ उगा हुआ था। वह ज्यादा घना और फैला हुआ नहीं था लेकिन लोगों को विश्वास था कि वह कुछ ही सालों में अपनी घटाओं को खूब फैला लेगा। उस की घटाओं में से कई छोटी-बड़ी डालियां जमीन की ओर झूल रही थीं। कुछ जमीन तक पहुंच कर भीतर चली गई थीं और अब धीरे-धीरे मोटी हो रही थीं।

मैं उन झूलती डालियों में से होती हुई गुजरी। कुछ डालियों को मैं ने पेंग दे कर हिला दिया। पत्तों में छिपे पंछियों ने चौंक कर थोड़ी फड़-फड़ाहटें कीं, फिर शान्त हो गए।

झोपड़ी का दरवाजा उढ़का हुआ था। यह मजबूत दरवाजा पिछले साल ददा ने लगवाया था। उस के पहले जो कच्चा दरवाजा था उसे दरवाजा न कह कर केवल आड़ कहना ज्यादा ठीक होगा। गांव में चोरी की वारदातें अकसर होती रहती थीं। हर रात हम कुत्तों की तरह चकन्नी नींद लेते थे।

हल्का धक्का दे कर मैंने दरवाजा खोला और भीतर घुसी। ढीवरी की पीली रोशनी चारों ओर छितरी हुई थी। ढीवरी के आसपास की चीजें साफ दीख रही थी, दूर की चीजें धुंधलाहट के लिफाफे मे बन्द थीं।

एक कोने मे दाई चूल्हा फूंक रही थी। पूरी झोपड़ी में धुआ भर गया था। हमारी झोपडी बहुत छोटी थी। उस में एक ही कमरा था। उस में धुआ भर जाने मे देर नही लगती थी।

बरसात के दिन आ गए थे जिस से लकड़ियों में सीलन थी। धुआ तो भकाभक उठ रहा था पर आग का नाम नही था। बास के एक छोटे टुकड़े को मुह के पास ला कर, उस की पोल में जोरों से फूंक-फूंक दाई आग जलाने की बेकार कोशिश कर रही थी। फूकते ही बास के एक हाथ लम्बे उस टुकड़े में सूं की आवाज होती। दाई के दोनों गाल फूल कर यों कुप्पा हो जाते जैसे नया गुब्बारा फुलाते समय छोटे बच्चो के गाल फूल जाते हैं।

एक कोने में ददा की खाट पडी थी। उन्हे पिछले तीन दिन से हल्का बुखार था जो आज दोपहर बढ गया था। कई चादरें शरीर पर डालने के बावजूद जब उन्हे ठड पडती ही रही थी तो हम लोग समझ गए थे कि उन्हे मिलेरिया हो गया है। कुनीन खाने के बाद उन्हे कुछ आराम हुआ था और इस समय वह नीद में थे। मुझे डर लगा कि यह धुआ कही उन्हे जगा न दे।

मुझे देखते ही दाई ने बास की फूकनी जमीन पर पटक दी। बिफर कर बोली—"निगोडी आग !"

"घुच (हटो), मैं बार (जला) देत हौं।" मैं ने उस के पास जा कर कहा।

उस की आंखो से पानी झर रहा था। गाल गीले हो गए थे। डोरो में भी लाली उतर आई थी। मैं समझ गई कि दाई ने मुझे इसी काम के लिए बुलाया है। जब भी गीली लकड़िया वह नही सुलगा पाती, वह इसी तरह झुझलाए स्वर में मुझे टेरती है—"वो हिरना ! हिरनू वो ?"

मेरी फूंक में दाई से कहीं ज्यादा ताकत थी। थोड़ी ही देर में धुएं के वदले शोला उठ आया।

एलूमिनम की पतीली में चांवल चुड़ने लगे। चुड़ने की खदवदाहट झोपड़ी में भर गई। झोपड़ी का धुआं अव लगभग निकल चुका था।

ददा ने कसमसा कर करवट वदली।

दाई ने पास जा कर पूछा—"जाड़ा तो नहीं लगत है ?"

उन्होंने कोई जवाव न दिया। दाई थोड़ी देर तक उन के सिरहाने खड़ी रही, फिर मेरे पास आ कर वैठ गई।

रात के साढ़े सात वज चुके थे। पड़ोसी किसान का छोटा लड़का किसी दोस्त की घड़ी उधार लाया था। वह हर समय चिल्लाता रहता था कि कितने वज गए। पता नहीं इस में उसे क्या मजा आता था। इस समय भी वह आंगन में खड़ा हो कर ऊंची आवाज में मशीन की तरह वोलता जा रहा था—"सारी सात !"

दाई को अचानक जैसे कुछ याद आया। उस ने कहा—"हीरू ! दाऊ के हियां दूध दुहेला (दुहने के लिए) कौन जाही ?"

"क्यों ?"—मैं ने उस की ओर देख कर पूछा—"रामलखन नहीं जाही ?"

रामलखन ददा के एक मितान (दोस्त) का वड़ा वेटा था। उस का चेहरा वहुत रोवीला था। वड़ी-वड़ी मूंछें और घनी भौंहें उस पर खूव फवती थीं। पिछले ही साल मेरी एक सहेली की वड़ी वहन उस के घर वैठ गई थी। इस साल वह एक वच्चे की मां थी।

मिलेरिया के कारण ददा पिछले तीन दिन से दाऊ (भूतपूर्व जमींदार) दुखमोचनसिंह के ढोर चराने नहीं जा रहे थे। यह काम रामलखन कर रहा था।

हमारा कुटुम्व पीढ़ी-दर-पीढ़ी से दाऊ दुखमोचनसिंह के घराने के ढोर चराता आ रहा था। कुटुम्व का वड़ा लड़का दाऊ का ग्वाला वन जाता, छोटे लड़के अपने लिए कहीं और अहीरी तलाश करते। जिस तरह मैं

अपने दाई-ददा की इकलौती बेटी थी, उसी तरह ददा भी अपने ददा के इकलौते बेटे थे जिन के मरने के बाद वह दाऊ घराने के ग्वाले बन गए थे।

"मैं अपन लछमी की शादी नहीं करहूं।"—ददा कई बार मेरी ओर देख कर मजाक करते—"मेरे बाद लछमी दाऊ की ग्वालिन बनही !"

लेकिन मैं जानती थी कि वह झूठा मजाक करते थे। मेरी शादी धूमधाम से करने की कितनी हौंस थी उन्हें !

गाव में अभी भी कई शादियां पलनों में हो रही थीं और होने वाली थीं। पलनों में ही क्यों, दो गर्भवती स्त्रियां आपस में वादा करतीं कि यदि उन के टुरा-टुरी (लड़का-लड़की) हुए तो उन्हें ब्याह दिया जाएगा। लेकिन पन्द्रह-सोलह साल तक अनब्याही रहने वाली टुरियों की भी अब गाव में कमी नहीं थी। ऐसी टुरियां गाव की बड़ी-बूढ़ियों के तानों व चर्चा का विषय होतीं। वे चर्चा करती हुई इस काले जमाने को दोष देतीं और मनातीं रहतीं कि जल्दी-से-जल्दी परलय हो जाए।

टुरियां दो कारणों से बड़ी उम्र तक कुंवारी रह जाती थीं। एक तो यह कि उन के भाई या अन्य रिश्तेदार शहर जा कर पढ़-लिख आते थे और बाल-विवाह का विरोध करते थे। जब टुरों ने ही देर से शादी करने की जिद पकड़ ली थी तो टुरियों को बड़ी उम्र तक कुवारी रह कर इन्तजार करना ही था।

दूसरा कारन था पैसों का। माता-पिता लाख चाह कर भी बेटियों की शादी न कर पाते क्योंकि उन के पास दहेज के लिए पैसा नहीं होता था। कुछ लोगों से दहेज देते बने देते थे। उन्हें भी पैसों के लिए माथा रगड़ना पड़ता।

घर में इसी बात को ले कर अक्सर दाई-ददा से बात छिड़ा करती। कई बार मुझे लगता, कि मैं उन पर बहुत बड़ा बोझ बनी हुई हूं। मेरे चौदह साल तक अनब्याही रह जाने के पीछे ददा की गरीबी ही थी। उन का बस चलता तो मुझे आठ-दस साल की उम्र में ही कर दान देते लेकिन दो जून की रोटी ही जब मुश्कि

थी, शादी का सवाल नहीं उठता था।

फिर ददा लड़का भी कोई ऐसा चाहते थे जो मेरा डोका (पति) बन कर ससुराल में ही रहने लगे। मैं पहले ही कह चुकी हूं कि इकलौती बेटी होने के कारण मैं दाई-ददा की बेहद लाडली थी। शादी के बाद मुझे विदा कर के स्वयं अकेले रह जाने की वह सोच भी न सकते थे।

यों देखा जाए तो ददा मेरे बारे में जरूरत-से-ज्यादा फिकर कर रहे थे। गांव में शादी के बारे में काफी आजादी थी। लड़की को अपनी पसन्द के लड़के के साथ भाग जाना बहुत मामूली बात न थी लेकिन बहुत बड़ी बात भी न थी। लोग रस ले-ले कर ऐसी घटना की चर्चा करते, फिर सारा कसूर नए जमाने पर डाल कर खुद अलग हो जाते। मैं भी अपनी सहेलियों में ऐसी बात खूब करती। कुछ साहसी जोड़े खुलेआम प्यार करते और बिना किसी ढोल-ढमाके के युवती युवक के घर में बैठ जाती। लेकिन इतना जरूर कि ऐसा करने वालों का मान गांव में पहले जैसा न रह जाता।

गांव के पास ही इमली के करीब बीस पेड़ थे। हम उन पेड़ों पर बन्दरियों की तरह चढ़ जातीं और घटाओं में छिप कर चोरी-चोरी बातें करतीं कि गांव की किस लड़की का प्यार किस लड़के के साथ चल रहा है। एक अजीब-सी सनसनी हमारी रगों में भर जाती।

ददा मान के भूखे थे। दाऊ के ग्वाले का पद बहुत बड़ा तो न समझा जाता था और हमारी गरीबी भी किसी से छिपी नहीं थी, लेकिन गांव के इज्जतदार और ईमानदार कुटुम्बों में हमारी गिनती होती थी। शादियां बिना दहेज दिए भी हो सकती थीं, लेकिन ददा नहीं चाहते थे, उन की इकलौती बेटी भी दहेज न पाए। देर से सही, लेकिन मुझे ठाठ से ब्याहना चाहते थे।

"नहीं। रामलखन आज मड़ई (मेले) गे हवै।"—दाई ने उत्तर दिया—"दुपहरिया को कहने आए रहिस।"

दाई के दोनो पैरों की उगलियों को पानी लग गया था। हर समय पैर भीगे रहने के कारण उगलियो के नीचे की चमड़ी बिल्कुल सड़ गई थी। वहा उसे बहुत खाज होती थी, खुजलाने पर जलन उठती। कई बार तो खून तक निकल आता। उसे चलने-फिरने मे बहुत तकलीफ थी। खूब मिट्टी का तेल लगाने के बाद भी उस का दर्द कम न हो रहा था।

मुझे गाय-भैंस दुहना अच्छी तरह आता था। दाऊ के ग्वाले की बेटी जो थी। "मैं चली जाहूं।"···मैं ने कहा और उठने लगी।

आकाश मे बादल नही थे लेकिन बरसात का क्या ठिकाना कह कर दाई ने मुझे एक बोरा दिया। बरसात होने पर मैं इस बोरे को ओढनी बना कर अपने को पानी मे बचा सकती थी।

छोटा-सा लालटेन हाथ मे लिए मैं दाऊ दुखमोचनसिंह की हवेली कल्याण भवन की ओर चल पडी।

३

बां⋯ऽ। ऽ⋯!

कल्याण भवन के पास पहुंचते ही मैं ने गाय को रंभाते सुना। दूध भर जाने के कारण उस के थन तन रहे होंगे।

कल्याण भवन करतरा की इकलौती हवेली थी। बाहर से उस पर झकाझक सफेदी पुती हुई थी लेकिन क्योंकि मैं अकसर अकेली या ददा के साथ भीतर तक जाती थी, मुझे मालूम था कि भीतर की दीवार मटमैली या पीली हैं। कई बार मैं अचरज करती कि इतनी बड़ी हवेली में इस कदर अन्धेरा क्यों होता है। मैं जब भी कल्याण भवन के भीतर जाती, मुझे लगता, यहां की हवा वह नहीं है जो गांव की और-और जगहों पर है। मैं उस हवा में कुछ अजीब-सा, फीका-फीका स्वाद अनुभव करती।

हवेली का सामने का हिस्सा दुमंजिला था। ऊपर जाने के लिए बाईं ओर लोहे की सीढ़ी लगी हुई थी। दाऊ दुखमोचनसिंह को मैं ने अकसर उस सीढ़ी से ऊपर जाते देखा था। उस समय वह थोड़ी-थोड़ी कांपती थी। जब उस की कंपकंपाहट मैं ने पहली बार देखी थी तो मुझे लगा था, यह सीढ़ी लोहे की होते हुए भी बहुत कमजोर है, कभी भी गिर सकती है। मैं ने कई बार अपनी सहेलियों में बैठ कर उस सीढ़ी को ले ऊटपटांग मजाक किए थे।

दाऊ दुखमोचनसिंह अब बूढ़े हो चुके थे। उन की चमकदार चांद भी मेरी सखियों के मजाक की चीज थी। दाऊ की कमर दुहरी हो गई थी और होती जा रही थी। हर समय उन के हाथ में एक लाठी होती। चलते समय वह उस का सहारा लिया करते। जब वह आरामकुर्सी में धंसे होते तो बात समझाने के लिए उन की लाठी हवा में इधर-उधर

उछलती रहती।

गाव में चर्चा थी कि दाऊ की वह लाठी ठेठ जगन्नाथ से आई है। कुछ लोगो का कहना था कि उस लाठी मे पोल है जिस मे किसी गुप्त खजाने का नक्शा छिपा है। इसी से दाऊ उसे कभी अपने से अलग नही होने देते। मैं ने कभी नक्शे वाली बात पर विश्वास नहीं किया था लेकिन मैं यह चाहती थी कि कम-से-कम एक बार उसे बिल्कुल पास से देखू और हो सके तो छू भी लूं।

मैं कभी हवेली की पहली मजिल पर नही गई थी। नीचे से ताक कर जो भी कल्पनाएं की जा सकती थी, मैं ने उस के बारे में की थी। दाई ने मुझे बताया था कि जब जमीदारी प्रथा थी तो वहा पर दूर-दूर से बाइया आ कर नाचती-गाती थी और दाऊ, जो उस समय भरपूर जवान थे, शराब की झोंक में उन्हे मुंहमागा इनाम देते थे। मैं ने मन मे यह चित्र खीच रखा था कि वहा एक लम्बा-चौडा कमरा होगा, एक ओर गद्दे और कुर्सिया लगी होंगी, दूसरी ओर नाचने का चौक होगा, आदि।

दाहिनी ओर हवेली मे एक गलियारा बना हुआ था। औरतो के आने-जाने के लिए उसका उपयोग होता था। साधारण तौर पर पुरुष उधर से भीतर नही जाते थे। उन के लिए हवेली के आगन को पार करने के बाद सदर रास्ता बना हुआ था जो एक सजे-धजे कमरे से गुजरता था।

उस कमरे मे मैं एकाध बार आई थी। तब मैं आठ-नौ साल की रही होऊंगी। अदब किसे कहते है इस का होश मुझे नही था। वहा की दीवारो पर शेर की खालें, हिरन के सींग, बन्दूकें, हाथीदात आदि देख कर मैं डर गई थी। दूसरे दिन दाऊ ने ददा को टोका कि तुम्हारी लौंडिया को उस कमरे मे नही जाना चाहिए; यह अदब के खिलाफ है। घर आ कर ददा ने आखें तरेर कर मुझे समझाया था कि मुझे औरतो के उस गलियारे मे ही भीतर जाना चाहिए। ददा मुझ पर शायद ही

कभी गुस्सा होते थे, उन की लाड़ली जो थी मैं, और इसी से जब भी वह गुस्सा होते, मुझे अपने पर बड़ी शर्म आती। उस के बाद से मैं कभी उस कमरे में न गई थी। हां, भीतर झांकने का लालच मुझ से न रुकता। वहां अजीब-सा खिचाव था।

मैं गलियारे में आई। वहां अन्धेरा था और मैं नंगे पांव थी। रास्ते में हवा ने मेरा लालटेन बुझा दिया था। मुझे जमीन गीली-गीली लगी। एक गुलगुले मेंढक ने मेरे पंजे पर छलांग मारी और मैं चौक पड़ी। मैं ने सोचा कि यहां सांप-बिच्छू भी हो सकते हैं और मुझे दो बातों पर गुस्सा आया। एक तो यह कि ददा मुझे जूतियां क्यों नहीं ला देते और दूसरी यह कि दाऊ ने गलियारे में एक लालटेन तक क्यों नहीं लगवाया है।

गलियारा पार करने पर सामने खुला चौक आया, जिस के बीच में गियास (पैट्रोमेक्स) जल रहा था। उस की तेज रोशनी में आसपास की चीजें जगमगा-सी रही थीं। अन्धेरे से एकदम उजाले में आने के कारण मेरी आंखें चौंधिया गईं। बरसाती मौसम के कारण छोटे-छोटे कीड़ों का एक झुंड गियास के आसपास जूझ रहा था।

मैं ने छम-छम की आवाज सुनी। पलट कर देखा तो सामने बड़ी बहू खड़ी थी। मुझे देखते ही उस ने मुस्करा कर कहा—"काहे नी हिरना देवी, देर कईसे लगा दी?"

मैं जवाब में केवल धीमे से मुसकराई। बड़ी बहू, जिस का नाम मुझे नहीं मालूम था, मुझे बहुत अच्छी लगती थी। उस के मुसकराने का एक खास ढंग था और क्योंकि वह पान नहीं खाती थी, उस के दांत घर की दूसरी बहुओं की तरह काले न हो कर चकाचक सफेद थे। उस के पैरों के कड़े यों तो और कड़ों जैसे ही थे लेकिन उन की आवाज मुझे जाने क्यों, बहुत अच्छी लगती थी। उस की नाक में झूलती सोने की नथ की ओर मैं देखती रह गई। गियास की रोशनी में वह चमक रही थी।

थनों पर दुहने मे पहले घी लगता था। कटोरा मैं ने तुलसी-क्यारे की पार पर रख दिया जो चौक के बीच मे बना हुआ था। उस की पार लगभग मेरे जितनी ऊंची थी।

"मोर (मेरा) लालटेन हवा मे बुझ गे।"—मैं ड़े कहा।

झट मे वह माचिस ले आई। मेरा लालटेन उस ने खुद जलाया। मैं नही चाहती थी, वह मेरे लिए इतनी तकलीफ करे। गियास की सफेद रोशनी मे मैं ने देखा कि लालटेन की फीकी रोशनी कितनी पीली होती है। इसी रोशनी मे हम लोग जीते है, मैं ने सोचा, लेकिन तभी मुझे खयाल आया कि गियास तो हवेली मे केवल भीतरी चौक और बाहर के आगन मे जलता है। बाकी कमरो मे तो यहा भी लालटेन या लम्प (लैम्प) जलते है। उन की रोशनी पीली ही होती है।

लालटेन उठा कर मैं गलियारे से होती हुई बाहर आई। दाहिनी ओर दाऊ की गौशाला थी। वहा तीन गाए और दो भैंसें बाधी जाती थीं। दाई ने मुझे बताया था कि एक जमाना था, इस गौशाला मे पूरे दो दर्जन जानवर बधते थे लेकिन जमींदारी जाने के बाद सरकार ने सब छीन लिया था।

उगलियो तथा गाय-भैंसो के थनों पर घी लगा कर मैं दूध दुहती रही। घुटनों मे दबे बरतन में दूध की धारा पड़ती और छर्र-छर्र की आवाज होती।

करीब आधे घण्टे के बाद जब मैं घर की ओर लौट रही थी, मैं ने देखा, आकाश मे बादल घिर रहे हैं। हवा के झोंके आने लगे। मेरे लालटेन की लौ कापने लगी। कही यह पहले की तरह फिर न बुझ जाए। मैंने तेजी से कदम बढ़ाए लेकिन एक जोरदार झोंका आया और लौ सहम कर गुम हो गई।

मैं अधेरे मे चलती रही। झोपड़ी के भीतर मैं ने कदम रखा ही था कि बरसात आ गई।

४

दूसरे दिन ददा को खूब पसीना आया और बुखार उतर गया लेकिन कमजोरी इतनी थी कि दाऊ के ढोर चराने जाने की हिम्मत वह न कर पाए। जब रामलखन उन की तबीयत का हाल-चाल पूछने आया तो उन्होंने कहा कि आज और वह दाऊ के ढोर चरा लाए। रामलखन को इस काम के लिए हम पैसे देते थे इस लिए उस ने खुशी से ददा की बात मान ली।

जब वह कल्याण भवन की ओर चला गया तो ददा ने मुझे पास बुलाया और कहा—"हिरना ! शादी करेगी ?"

ददा की यही आदत थी। किसी भी बात को, फिर चाहे वह बहुत बड़ी क्यों न हो, इसी तरह थोड़े में झट से पूछ लेना उनकी खासियत थी। यह सवाल इतने सीधे रूप में कभी मेरे सामने नहीं आया था। मैं सकुचा गई। शादी के विषय में मैं ने कुछ भी नहीं सोचा था। मैं ने यह बात पूरी तरह ददा पर छोड़ दी थी। दाई ने भी ऐसा रुख अपना रखा था कि वह जो करेंगे, ठीक करेंगे।

मैं ने कोई जवाब न दिया। ददा ने मुझे भींच कर प्यार किया। मैं ने उन्हें फुसफुसाते सुना—"मोर (मेरी) हिरना तो राजरानी होनी चाहिए।"

रात को मैं ने सपना देखा कि मेरी शादी हो गई है। मेरा दूल्हा बहुत खूबसूरत है। मेरी संगवारिनें मेरे भाग्य पर जल रही हैं। शादी के बाद बच्चे होते हैं और मैं ने देखा कि मेरे भी बच्चे हुए। सुबह उठने पर मैं ने सपने को याद किया। शर्म की लाली मेरे गालों पर छा गई। मुझे मालूम नहीं था कि मेरी शादी के लिए ददा के पास कितने रुपए जमा हो गए हैं लेकिन मैं बहुत अच्छी तरह जानती थी कि वह मेरी

शादी धूमधाम मे करना चाहते हैं।

तीन दिनों के बाद एक सुबह जब दाई ने खोआ मगवा कर औटाना शुरू किया तो मुझ से न रहा गया। मैं ने पूछा—"पेड़े क्यों बनत हैं दाई ?" उत्तर मे वह मुसकरा उठी। बहुत देर तक वह कुछ न बोली। फिर उस ने मुझे अपने से भीच कर प्यार किया, ठीक उसी तरह, जिस तरह उन दिन ददा ने किया था।

दोपहर को हम ने जिम का स्वागत किया, वह एक काना आदमी था। ध्यान से देखने पर मुझे पता चला, वह थोड़ा लगड़ाता भी था। जब मैं ने और सहेलियों ने देखा कि वह बात करते समय बिल्कुल बन्दर की तरह आंख मिचमिचाता है तो रोकते-रोकते भी हमारी हंसी फूट पड़ी।

उस समय वह ददा के पास पीढ़े पर बैठ कर ताजे पेड़ों के साथ दाल-रोटी और चावल खा रहा था। उसे हमारी हंसी ने चौंका दिया। मैं ने देखा कि उस की पैनी आख मुझ पर टिकी हुई है। उस का मुह आश्चर्य मे अधखुला रह गया था। मुह का कौर साफ दिखाई पड़ रहा था। हम फिर से हस पड़ी।

अचानक वह पीढ़े पर से उठ खड़ा हुआ और मोरी के पास जा कर हाथ धोने लगा। उस का चेहरा तमतमा रहा था। मैं ने ददा को हड़बड़ा कर उस के पास जाते देखा। वह घिघियाते हुए-से कह रहे थे— "चौधरी सुनो तो, छमा बडन को चाहिए, छोटन को अपराध ! बच्चों की बात का बुरा मानना ?" लेकिन उस ने ददा की एक न सुनी। मोरी के पास कील से एक धुला हुआ कपड़ा लटक रहा था। उस से हाथ पोंछ कर वह चूहे की तरह इधर-उधर देखता हुआ खाट पर जा बैठा।

अब मेरी आखें दाई की ओर उठी। दरअसल मैं समझ न पाई थी कि हम लोगों ने हंस कर इतना बड़ा कौन-सा अपराध कर डाला था। दाई की आंखें गुस्से मे लाल हो गई थीं।

अचानक मुझे सब समझ में आ गया। जिसे सुबह के बने पेड़े

खिलाए जा रहे हैं वह जरूर मेरी शादी के सिलसिले में ही आया है। मुझे बहुत पछतावा हुआ कि क्यों मैं इतनी बदतमीजी से हंस पड़ी। अब मुझे उस से सहानुभूति हो आई, काना होना तो भगवान के हाथ की बात है। लंगड़ापन भी अपने बस में नहीं। परन्तु हंसी को कैसे लौटाया जा सकता था।

लेकिन मेरा भी क्या कसूर? दाई को पहले से बता देना चाहिए था कि कोई मुझे देखने आने वाला है। मैं एक भली लड़की की तरह चुपचाप बैठी रहती, जरा भी न हंसती। बल्कि मैं सहेलियों को भी झोपड़ी में न आने देती, बाहर से ही विदा कर देती।

मुझे अपने पर बड़ा गुस्सा आया। कहां तो उस रात मैं ने सपना देखा था कि मेरे बच्चे भी हुए और कहां आज मैं इतना तक न समझ पाई कि कोई मुझे देखने आया है। सचमुच मैं बेवकूफ थी। सुबह बनते पेड़े और बनने का कारण पूछने पर दाई का मुझे भींचना—बात समझाने के लिए क्या इतना काफी नहीं था?

आज दाई ने मुझे चोटी का नया फीता दिया था, पहनने को नई धोती दी थी। उस ने सोचा होगा, मैं सब समझ गई हूं। मैं ने जब भी इस सिंगार का कारण पूछा था, वह मुसकरा दी थी।

रूठे चौधरी को मनाने के लिए ददा को बहुत घिघियाना पड़ा। "टूरी (लड़की) की सुन्दरता पर भी तो धियान दो चौधरी साहेब!" उन्होंने कहा।

हार कर ददा ने उन्हें पेटी से एक नई धोती निकाल कर दी। चौधरी साहेब मान गए। उन का सूखा चेहरा खिल उठा और एक आंख में कौंध भर गई। छुटपन में रूठ जाने पर चाकलेट दे कर मुझे इसी तरह मनाया जाता था। चौधरी ने 'इधर आओ बिटिया' कह कर मुझे पास बुलाया। फिर से मेरी संगवारिनें किलक पड़ीं। इस बार चौधरी ने बुरा नहीं माना। शाम को उन्होंने विदा ली। मैं अभी भी संगवारिनों से घिरी बैठी थी। वे दोपहर से आई थीं और अभी तक अपनी झोप-

ड़ियों को वापस न गई था। वे समझ गई थी कि मेरी शादी की तैया-रिया शुरू हो गई हैं।

रात को चौधरी की हसी उड़ाने के लिए मुझे बहुत डाट पडी। ददा ने गुस्से से मेरा कान उमेठ दिया और मैं रो पड़ी। दाई ने तुरन्त दौड कर मुझे गोद मे छिपा लिया और बोली—"ओकर का (उस का क्या) कसूर हवै ?"

दो दिन बाद मुझे पता चला कि दाई ने चौधरी के आने का मत-लब मुझे क्यों नही समझाया था। मैं खेल कर वापस लौटी और दरवाजे पर ही ठिठक कर खडी रह गई।

भीतर मे दाई की आवाज आ रही थी—"मैं ने ओला (उसे) नही बताया। मैं सोची, ओहर (वह) घबरा जाही।"

फिर मैं ने ददा की आवाज सुनी। वह उसे डाट रहे थे।

मुझे सन्तोष हुआ कि चलो, सारा कसूर तो दाई का था।

५

एक दिन मुझे पता चला कि लड़के वालों की ओर से मुझे देखने आए उन चौधरी महाशय ने संदेश भेजा था कि मैं उन्हें याने लड़के वालों को पसन्द हूं। मतलब, मेरी शादी करीब-करीब तय हो गई थी।

मैं ने सोचा कि अब मैं छोटी लड़कियों के साथ ज्यादा नहीं खेलूंगी क्योंकि मैं बड़ी हो गई हूं, लेकिन जब मैं ने बड़ी लड़कियों में शामिल होना चाहा, तो उन्होंने मेरा खास स्वागत नहीं किया। उन के साथ मैं हर खेल में पिछड़ जाती। मैं झुंझलाती, सावधान रहने की कोशिश करती, लेकिन कहीं-न-कहीं चूक ही जाती। मैं ने देखा, उन के मन में मेरे लिए लगाव नहीं है। मेरी चूक पर वे एक-दूसरी की ओर देख कर मुसकरातीं। यह मेरा अपमान था। उन लड़कियों ने मुझ से कुछ ऊट-पटांग सवाल पूछे, जिन का मतलब मुझे समझ में न आया। उन्होंने मेरी ओर उंगली उठा-उठा कर मुझे मजबूर कर दिया कि मैं फिर से अपनी उम्र की ही लड़कियों में चली जाऊं।

अब उन लड़कियों ने भी मेरा स्वागत न किया। मैं न घर की रही, न घाट की। उन्होंने मुझे यों देखा, जैसे मैं कोई दयनीय जीव होऊं।

कुछ दिनों तक मैं भीतर-ही-भीतर उबलती रही, फिर मैं ने देखा कि सारा कसूर मेरी होने वाली शादी का था। मेरा उत्साह ठंडा हो गया। लेकिन सहेलियां आखिर कब तक मुझ से कतराती रहतीं? उन्हों-ने मुझे अपने में मिला ही लिया।

हम लोगों ने एक झुकी दुपहरी को गांव से लगे उन इमली के पेड़ों की ओर कदम बढ़ाए। हम पांच थीं। मैं कई दिनों तक घर में गुमसुम रहने के बाद बाहर निकली थी। मुझ में सब से अधिक छलकाव था।

चलते-चलते मैं अकसर सब से आगे निकल जाती, फिर रुक कर पिछडी सहेलियों को साथ लेती। "अगोर (रुको) न हिरना !"—मेरे आगे निकलते ही पीछे से कोई संगवारिन कह उठती। मेरे भीतर सन्तोष घिर आता।

दो दिनों तक धीमी बारिश होने के बाद आज आकाश खुल गया था। उस का नीला रंग नया-नया, धुला-धुला लग रहा था। जिस पग-डंडी से हम गुजर रही थीं, उस के दोनों ओर हरे-भरे खेत फैले हुए थे। चावल की फसल काफी उग आई थी। कुछ खेतों में पानी ज्यादा बढ़ गया था। उन की मेढ़ों को तोड़ कर पानी निकाला जा रहा था जिस से सड़ांध पैदा न हो जाए। ऐसे स्थानों पर पगडंडी टूट गई थी और हमें छोटी-छोटी छलांगें लगा कर नालियां कूदनी पड़ती। हम पांचों ने साड़ियां पहन रखी थीं, जिन में लाग पड़ी हुई थी। मैं ने पोलका नहीं पहना था। मेरी बांहें कन्धों तक उघड़ी हुई थीं। हवा के झोंकों की छुअन मैं उन पर अनुभव कर रही थी। पीठ भी आधी नंगी थी। सूर्य पीठ की ओर था। धूप हमें सहला रही थी। आगे पड़ती छोटी-छोटी परछाइयां हर छलांग के साथ पांवों से अलग हो जातीं। ज्यों ही हम धरती पर आतीं, वे वापस पांवों से जुड़ जातीं।

इमली के पेड़ आ गए। मैं उछल कर एक लदलद डाल पर चढ़ गई। नमक-मिर्च हम साथ ही लाई थीं। इमली तोड़ कर उस के खट्टे स्वाद को चटखारा कर के हम खाती रहीं। कुछ देर में हमें खट्टी डकारें आने लगीं।

"हूप ! हूप !"—एक बन्दर ठीक मेरे ऊपर से निकला। मैं हड़बड़ा कर गिरते-गिरते बची। सहेलियों ने मेरी खिल्ली उड़ानी शुरू कर दी। मैं भी उन की हंसी में शामिल हुई जिस से मेरी कम हंसी उड़े।

जहां मैं बैठी थी, वहां से एक डबरा (छोटा तालाब) दीख रहा था। चारों ओर से वह जंगली फूल के पौधों से घिरा था। उन पौधों की हरी छायाएं पानी में पड़ कर हिलोरों के साथ कांप रही थीं। पानी में छः-

सात बगुले मूर्तियों की तरह खड़े मछलियों को टोह रहे थे। उन की गरदनें अचानक तीर की तरह पानी में घुसतीं। बाहर निकलतीं तो उन में तड़पती मछली दबी होती।

गिलहरियां इस डाल से उस डाल कूद रही थीं। मैं उन की मोटी दुमें देखती रही। पेड़ के तनों पर लम्बी-लम्बी इल्लियां आलस से रेंग रही थीं।

"क्यों री हिरना,"—घटा की आड़ से मुझ से पूछा गया—"बाबा सिद्धनाथ की मड़ई में चलबे ?"

"सिद्धनाथ की मड़ई ? कब हवै ?"

"दू दिन बाद।"

"जरूर चलहूं।"

"झन (मत) चल !"

"क्यों ?"

"तोर डौका (तेरा आदमी) उठा ले जाही !"

मैं अकबका कर चुप रह गई। सहेलियों की हंसी घटाओं में गूंज उठी।

"धुत !"—मैं ने कहा—"अभी शादी कहां होए हवै !"

लेकिन वे हंसती रहीं।

बाबा सिद्धनाथ के मन्दिर के पास हर साल मड़ई (मेले जैसा बाजार) लगती थी। जब मन्दिर का पुराना पुजारी मौजूद था, इस मड़ई की शान सातवें आसमान पर थी। नए पुजारी के आने के बाद मड़ई का रिवाज जैसे केवल निभाया ही जाता था।

इस मड़ई की एक खास चीज थी कबड्डी की होड़ें। हर गांव से कबड्डी के चुनींदा खिलाड़ी वहां पहुंचते थे। उन की 'चल त त त !' या 'चल कबड्डी आवन दे, तबला बजावन दे !' की हुंकारें मेले के शोर को भेद कर दूर-दूर तक फैल जातीं।

शाम होने से पहले हम लोग वापस आ गईं।

जब मैं झोंपड़े में घुसी तो ददा हँसते-हँसते दुहरे हो रहे थे। देखते ही उन्होंने मुझे भींच लिया। उन की हँसी और बढ़ गई। दाई भी हँस रही थी।

मैं ने उन की ओर ताका।

"फोट्ठ खिचावे ?" —ददा ने प्यार से मेरे गाल पर चिकोटी काट कर कहा—"कस नोनी (क्यों लड़की) ?"

मैं समझ न पाई, वह क्या कहना चाहते थे।

वह बोले—"देख दुलहनिया ! दू दिन बाद बाबा सिद्धनाथ की मड़ई हवै। वहाँ तोर फोट्ठ खींचे जाही, समझी ?"

मैं ने कभी फोट्ठ नहीं खिचवाया था। मड़ई में जाने की हौंस अपने-आप पूरी हो रही थी, साथ ही वहाँ फोट्ठ भी खींचा जाने वाला था। ओह !

और जब दाई ने मुझे गोद में भर कर बताया कि वह फोट्ठ मेरे होने वाले डौके को भेजा जाएगा, लाज से मेरी कनपटी गर्म हो गई। यों काने चौधरी मुझे पसन्द कर चुके थे, लेकिन फिर भी लड़के वालों ने मेरा फोट्ठ मँगवाया था। "आजकल के फैसन हवै !" —दाई ने मुझे चूमते हुए यों कहा, मानो मुझ पर कोई अत्याचार होने वाला हो।

मैं बड़ी उत्सुक थी कि मेरी शादी जिस के साथ तय हुई है, वह कौन है, कहाँ रहता है, क्या करता है, किस उम्र का है, लेकिन किस से पूछती ? कैसे पूछती ? पर इतना तो साफ जाहिर था कि वे लोग शहराती थे, फैसन से समझते थे।

६

मैं ने कान में लाख की नई बालियां पहनीं। झोपड़ी में नया दरवाजा लगाने के लिए जो बढ़ई आया था, वह कान के ऊपर पैन्सिल खोंस लेता था। मुझे यह बहुत अच्छा लगता था। मैं ने बारहमासी के दो फूल दोनों कान के ऊपर उसी तरह खोंस लिए। कपार पर नई बिन्दिया लगा कर मैं बहुत देर तक शीशे में चेहरा निहारती रही।

क्या मैं १४ साल की दीखती थी ? नहीं, मेरा चेहरा १६ साल की लड़की की तरह खिल गया था। मैं खुली हवा में जा रही थी और मुझे कोई फिक्र नहीं थी। मेरी दाई बहुत सुन्दर थी। उस के चेहरे की हर तराश मेरे चेहरे में उतरी थी। ददा के लम्बे कद ने मुझे १४ साल में ही पट्ठी बना दिया था।

गांव की औरतें पोलका (ब्लाउज) पहनना पसन्द नहीं करती थीं। वे साड़ी के पल्लू को वक्ष पर इस तरह लपेटती थीं कि पोलका पहनने की जरूरत ही न होती थी। लेकिन खास मौकों पर केवल धोती में वही औरतें निकलती थीं जिन के पास पोलके होते ही नहीं थे। पोलका भरे-पूरे व सभ्य घराने की निशानी बन जाता था।

मुझे भी पोलका पसन्द नहीं था। कभी-कभार ही पहनने के कारण मुझे उस की आदत नहीं थी। मेरी बांहें कन्धों तक उघड़ी रहने की आदी थीं। पोलका उन की आजादी को लूटना चाहता था। मेरा बस चलता तो मैं आज भी बिना पोलके के ही मड़ई में जाती, लेकिन दाई के रहते ऐसा नहीं हो सकता था। हम लोग भरे-पूरे घराने के नहीं थे लेकिन गरीबी का खुला दिखावा किया जाए, ऐसी भी हालत हमारी नहीं थी। मुझे पोलका पहनना पड़ा। दाई को पोलके से मोह नहीं था लेकिन मेरी तरह वह उस से नफरत नहीं करती थी। उस ने चटख हरे रंग का

पोलका पहना। मेरे पोलके का रग लाल था—वैसे ही लाल, जैसा कि मेरे कान की वालियों का था।

बिना मागे मेरे लिए जुतिया आ गई थीं। मैं ने इस के लिए ददा का बहुत एहसान माना था। बरसात के कारण कीडे-मकोड़े निकलते ही रहते थे। नगे पाव घूमना जानलेवा भी हो सकता था। पिछले ही साल एक गरीब मोचन साप के काटने मे मरी थी।

मेरे लिए दो नई धोतिया भी आई थी। थीं तो वे सस्ती और मोटी लेकिन क्योंकि वे नई थी, उन्होंने मुझे खुश कर दिया था।

ये सारी चीजें मुझे बार-बार याद दिला रही थीं कि मैं अब बड़ी हो गई हूं। मुझे बुरा लग रहा था। मैं छोटी ही बनी रहना चाहती थी। गाव की जो लडकिया मुझ से कई साल बडी होते हुए भी अनब्याही थी, उन से मुझे जलन होने लगी थी।

लेकिन दूसरी ओर शादी रचाने की हौंस भी मुझ में कम न थी। दो बिल्कुल उलटी बातो के बीच मैं झूल रही थी। मेरी शादी किसी अनजान लडके के साथ करीब-करीब तय हो चुकी है, यह कल्पना जहा एक ओर मुझे गुदगुदा देती, उदास भी कर देती। मैं अपने को समझ नही पा रही थी।

"कतेक (कितनी) देर हवै ?" —ददा ने भीतर आ कर पूछा।

"कुछ नहीं।" —मैं ने जवाब दिया और उठ खड़ी हुई।

ददा ने पीले रग की पगडी पहनी थी, आखो में सुरमा लगाया था। छुटपन मे उन के कान बींधे गए थे। उन मे उन्होंने पीतल के छल्ले पहने थे। ये छल्ले वह कभी-कभार ही पहनते थे।

दाऊ की गौशाला के ढोर आज गांव के और ढोरों के साथ चरने भेज दिए गए थे। ददा सुबह तडके उन्हें दुह चुके थे। शाम को मडई से लौट कर वह उन्हे फिर से दुहने वाले थे।

हम तीनों बाबा के मन्दिर की ओर चल पडे। गाव के कई लोग झुड बना कर हमारे आगे-पीछे चल रहे थे। सब ने नई पोशाकें पहनी

थीं, सब के चेहरे नए-नए लग रहे थे ।

बरसात का पानी पगडंडी के दोनों ओर के गढ़ों में जमा हो गया था । उस का रंग मटमैला था । हरे रंग के मेंढक अपने चपटे मुंह और चार पैरों के साथ लापरवाही से गढ़ों में तैर रहे थे । हरियाली के ऊपर लम्बी गर्दन हवा में आगे तान कर जलकुकड़ियां उड़ानें भर रही थीं । उड़ते-उड़ते अचानक वे पत्थर की तरह पानी में गिर पड़तीं । डुबकी लगा कर निकलतीं तो उन की कमल की नाल जैसी लम्बी, नकरी, गोल गर्दन खुशी से हिल रही होती और चोंच में होती कोई तड़पती मछली ।

मेंढकों की टर्राहटें हवा में नाव के पाल की तरह तनी हुई थीं ।

लोग किलक रहे थे, मखौल कर रहे थे । कुछ शैतान बच्चे बड़ों का कहना न मान कर चिकनी पगडंडियों पर दौड़ लगा रहे थे । उन्हें इस की परवाह नहीं थी कि यदि वे फिसल पड़े तो उन के ही नए कपड़े कीचड़ से सन जाएंगे ।

आकाश साफ था । रुई के कुछ छितराए हुए टुकड़े हवा में लटके हुए थे । कभी-कभी वे थोड़ा चलते, फिर रुक जाते । उन के कारण धरती पर बनी छायाएं वे भी तब थोड़ा चलतीं और रुक जातीं । मुझे याद था पिछले साल यह रुई काली थी और अचानक भरभरा कर बरस पड़ी थी । इस से मड़ई का सारा मजा किरकिरा हो गया था ।

दूर से हम ने मड़ई का घुटा-घुटा शोर सुना । कुछ देर बाद हमें धूल का एक छोटा-सा फीका बादल हवा में उठा हुआ दिखाई पड़ा । यह धूल मड़ई में आए लोगों के पैरों से उड़ी थी । मैं ने आठ बैठकों वाले झूले की किचड़्क किचड़्क आवाज सुनी । झूले की मैं बड़ी शौकीन थी । मेरी एक सहेली को झूले से बहुत डर लगता था । झूले की बैठक जब ऊपर से नीचे आती, उस के होश फाख्ता हो जाते । बैठक नीचे से ऊपर उठती, उसे मतली आने लगती । लेकिन मुझे ऐसा कुछ नहीं होता था । मुझे तो झूला घूमते ही मीठी गुदगुदी होने लगती । किसी भी मड़ई में मैं झूले में बैठने का मौका न चूकती ।

मड़ई की भीड़ के बीच बाबा के मन्दिर का गुम्बद उभरा हुआ था। उस पर कुछ जंगली कबूतर बैठे थे। वे गुटरूं-गू कर रहे थे। उन की स्लेटी गर्दनें, जिन में चमकदार लाल-नीले रेशे थे, फूल कर चंवर की भांति हो गई थीं। वे फुदक रहे थे और दोस्ती करते हुए चोंचें लड़ा रहे थे। उन चोंचों की जड़ के पास एक-एक लाल दाना उभरा हुआ था जो मोती-सा प्यारा लग रहा था।

एक ओर कतार लगा कर पनवाड़ी बैठे थे। लोग उन से पान खरीद कर होंठ लाल कर रहे थे। पनवाड़ियों के साथ उन की बहू-बेटियां भी थीं, जो बंगला, कपूरी और मीठे पान पर कत्था-चूना लगाती जा रही थीं। उन में से शायद ही किसी ने पोलका पहना था। कच्ची लौकी जैसी उन की सांवली बांहें अपने पूरे गदराव के साथ उघड़ी हुई थीं। उन बांहों पर गोदने गुदे हुए थे। गोदने के नीले रंग से, जिसे दुनिया का कोई साबुन नहीं छुड़ा सकता, उन बांहों पर चिड़िया, मोर, घर, चांद-तारे आदि बने हुए थे। दाई ने मुझे बताया था कि मरने के बाद सब चीजें तो यहीं धरी रह जाती हैं, लेकिन गोदने सुरग(स्वर्ग) तक आत्मा का साथ देते हैं। जिस के पास जितने ज्यादा गोदने होते हैं, उसे उतना ही धरमात्मा समझा जाता है।

दाई के शरीर पर बहुत ज्यादा गोदने थे। दाहिनी कलाई पर उस का नाम गुदा हुआ था—रामकली। दाई को पढ़ना नहीं आता था लेकिन वह जानती थी कि कलाई पर रामकली लिखा है। कई बार अपनी जोड़ की डौकियों (औरतों) में बैठ कर वह 'रामकली' शब्द के हर अक्षर पर अलग-अलग उंगली रख कर रा-म-क-ली पढ़ती और खुश हो जाती।

मेरी कलाई पर एक भी गोदना नहीं था। कन्धे के पास [illegible] जहां बचपन में सरकारी दागदार (डाक्टर) ने जबर्दस्ती [illegible] टीके लगाए थे, कुछ गोदने बने हुए थे। मेरी सभी सहेलि[illegible] से ज्यादा गोदने थे, जिन में मैं अपने को उन के आगे [illegible]

फिर्र ! फिर्र !

मैंने मुड़ कर देखा।

गोदने वाला !

वह एक डौकी की हथेली के पीछे हनुमानजी बना रहा था।

मैं मचल पड़ी। दाई की धोती का पल्लू पकड़ कर मैं ने कहा—"मीला घलो (मुझे भी) गोदना गुदवा दो।"

दाई ने जरा भी नाराजगी न दिखाई। हम दोनों गोदने वाले के सामने बैठ गईं।

"का रेट हवै ?" दाई ने पूछा।

गुदने वाले ने अपनी सुई रोकते हुए दाई की ओर देखा, फिर मेरी ओर। उस ने अन्दाजा लगा लिया कि गुदने मुझे गुदवाने हैं, क्योंकि दाई तो पहले से ही पूरी गुदनों से भरी हुई थी।

"अलग-अलग चीज के अलग-अलग रेट।" —उस ने कहा और फिर से उस डौकी की हथेली के पीछे हनुमानजी बनाने में मशगूल हो गया। उस ने आंखों में डट कर कजरा डाला था। उस के मैले कपड़ों से सिण्ट (सेण्ट) की खुशबू उठ कर आसपास तैर रही थी। उस की नाक के नीचे छोटी-सी मूंछ थी जो मक्खी जैसी लग रही थी।

उस ने दाई को कुछ इस तरह जवाब दिया मानो हम लोग फिजूल ही उसे परेशान कर रही हों और हमारी टेंट में उस की फीस के लिए काफी रुपए न हों। चोरी करते रगे हाथ पकड़ी गई हों, यों दाई का चेहरा उतर गया। मुझे बड़ा गुस्सा आया। मैं ने पीछे मुड़ कर ददा की ओर देखा। वह आगे आए, गला खखार कर रौबीली आवाज में बोले—"ऐ है ! जइसे विलात से ट्रेन होके आय हवै ! झट बता, का रेट हवै ?"

"हनुमानजी के बारा आने, राम-सीता के दस आने, राम-सीता-लछमन के चौदा आने, नाम लिखाय के दू आना एक-एक अच्छर के हिसाब से।"—उस ने ददा का रौब जरा भी न मानते हुए कहा, मानो

वह अच्छी तरह जानता हो, हम धनवान होने का ढोंग कर रहे है । मुझे बुरा लगा ।

लेकिन मेरी हौस किसी भी कीमत पर पूरी होनी चाहिए, यह बात मैं ने ददा की आखों मे देखी । अब तक वह खड़े थे और हम दोनों बठी थीं । अब वह भी हमारे पास बैठ गए और बोले—"ज्यादा सेखी झन (मत) बघार । ए नोनी के हाथ पे दू ठिंया (दो) फूल बना दे, बीच में, नांव (नाम) लिख दे ।"

उस डौकी का काम पूरा हो चुका था । पैसे दे कर वह चली गई । गुदने वाले ने मेरी दाहिनी कलाई पकड़ कर अपनी ओर खींची । उस की सभी हरकतें ऐसी थीं, मानो बेगार टाल रहा हो ।

किर्र ! किर्र ! मशीन चालू हुई ।

"का नाव है एकर (इस का) ?" —उस ने दाई से पूछा ।

"लछ'''नहीं, नहीं, हिरना ! हिरना नाव है नोनी का !"

दो फूल बने, बीच में हिरना लिखा गया । पढ़ना मुझे भी नहीं आता था, लेकिन मुझे विश्वास था, गुदने वाले ने गलत नाम नहीं लिखा होगा । गुदने मे जलन हो रही थी और मैं खुश थी ।

एक फूल के चार आने के हिसाब से दो के आठ आने और नाम के तीन अच्छरों के छह आने, यों पूरे चौदा आने दे कर मेरी हौंस पूरी की गई । ददा जब पैसे दे रहे थे, मैं ने उन के चेहरे की ओर देखा । वह खुशी दिखाने की पूरी कोशिश कर रहे थे, लेकिन उस का खोखलापन मुझ से न छिप सका । अपनी आंख के इस पैनेपन पर मुझे अचरज हुआ । पिछले कई दिनों से मैं हर नकली कोशिश के पीछे छिपी असली बात भापने लगी थी । इस पैनेपन ने मुझे याद दिला दिया कि मैं अब छोटी नहीं रही ।

भीड़ मे ददा के पीछे चलते समय मुझे लगा, मेरे पांव गायब हो गए हैं । किसी जादू के जोर से कमर के ऊपर का हिस्सा हवा मे लटका हुआ है और अपने-आप ददा के पीछे खिंच रहा है ।

जब मैं चीं किचड़ुक ! चुर्र ! ई···! करते झूले के पास आई, मेरे वे गायब पांव वापस आ गए।

झूले में बैठने के लिए आठ कटघरे बने हुए थे। कटघरों में बैठे डौके-डौकियां (स्त्री-पुरुष) झूले के हर घुमाव के साथ किलकारियां लगा रहे थे। डौकियां डौकों की बजाए ज्यादा चीख-किलक रही थीं, आपस में लिपटी-लिपटी जा रही थीं। तीन कटघरों में केवल डौकियां थीं, पांच में केवल डौके थे।

२५ फेरों के दो-दो आने के टिकस थे। झूला रुका। एक-एक कर हर कटघरे को जमीन के पास लाया गया, लोग उतरते गए। पूरा झूला खाली हो गया। नए लोग बैठने लगे।

झूले वाला जोरों से चीख रहा था—"दुद्दू आना ! दुद्दू आना !"

ददा और दाई को झूले में दिलचस्पी नहीं थी। दाई शायद झूले से डरती भी थी। उस ने बैठने से इन्कार कर दिया। टिकस लेकर मैं डौकियों के कटघरे में जा बैठी। मेरे साथ पांच औरतें और थीं।

झूले के चक्कर शुरू हुए। मेरा कटघरा जब उछल कर 'चीं' बोलता हुआ एकदम ऊपर पहुंचा तो मुझे गुदगुदी होने लगी। मैं हंस पड़ी। कटघरा तुरन्त नीचे गिरा। हवा तीखेपन के साथ मेरे चेहरे पर चिपकी। मेरी लटें उड़ीं। मुझे अच्छा लगा। कटघरा सूं करता हुआ जमीन के पास आ कर ऊपर उछल गया। ऊपर से मैं ने देखा, मड़ई कहां तक फैली हुई थी।

इस के बाद हम लोग कबड्डी की होड़ें देखने लगे। नीली पैण्ट और सफेद कमीज पहने कई समसेवक (स्वयंसेवक) कबड्डी के मैदान की सीमा पर टहल रहे थे। वे आगे खड़े लोगों को बिठा रहे थे, जिस से पीछे वाले पूरा मजा ले सकें।

कई होड़ें हो चुकी थीं। उन में चुनी गई टोलियों की आखिरी होड़ की तैयारियां हो रही थीं।

"चल तअ तअ तअ तअ।"

"हु हू हू हू !"

खिलाड़ी उछलते, जांघों पर ताल देते, बैठते, फिसलते, झपटते, पलटते और विरोधी दल में घुस पड़ते। उन के शरीर मांसल थे, एक-एक मछली अलग थिरक रही थी। वे पसीने में नहाए हुए थे जो यों चमक रहा था, मानो उन्होंने तेल के तालाब में डुबकी लगाई हो। कुछ को चोटें लगी थीं। वहां की चमड़ी के पार खून छन आया था।

"अरे चौधरी ! चौधरी गों···ऽ···ऽ···!"—मैं ने ददा को हथेली की कुप्पी मुंह पर लगा कर किसी को पुकारते देखा।

चौधरी ? उस दिन वाले काने चौधरी ? मैं सावधान हुई।

खिलाड़ियों को जोश दिलाने के लिए लोग बुरी तरह चिल्ला रहे थे, लेकिन उस शोर को मैं नहीं सुन रही थी। मैं ने देखा, एक व्यक्ति भीड़ में रास्ता बनाता हुआ ददा की ओर बढ़ रहा था। ददा भी उस की ओर जाने की कोशिश में थे। वह हम मां-बेटी से अलग हो चुके थे। कबड्डी देखने वालों की भीड़ से हम दोनों बाहर निकल आईं। मैं ने देखा, वह व्यक्ति वही काना चौधरी था। आज उन्होंने पिलासटीक (प्लास्टिक) की ही फरेम का काला चश्मा पहन रखा था। इस से उन का कानापन छिप गया था। वह पान चबा रहे थे। पान का कत्था होंठों के दोनों ओर से बाहर निकल आता था। उन्होंने बण्डी के कास में मोर के तीन पंख खोंस रखे थे। ददा के पास आ कर वह मुसकराने लगे। मैं कनखियों से दोनों को देख रही थी। मेरी धड़कन बढ़ गई थी।

"ओहो ! भौजी भी साथ आई हैं का ?"—हम दोनों पर दृष्टि पड़ते ही उन्होंने हमारी ओर कदम बढ़ाए।

पास आने पर दाई ने उन्हें राम-राम किया। उन्होंने भी जवाब में राम-राम किया और पूछा—"कस, बने-बने (सब ठीक-ठाक) ?"

"हां तुम्हार किरपा है।"—दाई ने तमीज बरती।

मैं चौधरी की ओर पीठ फेर कर खड़ी थी।

"पौडर ! पौडर ! फइस पौडर !" एक लड़का पास से निकला।

चौधरी ने उसे रोक लिया। उस के पास बिन्दियां, सिन्दूर, तरह-तरह के फीते, लाख की बालियां और चूड़ियां, पौडर के डिब्बे आदि चीजें थीं। वे लकड़ी के एक चौखट में सजी थीं, जिसे वह मजबूत रस्सी से गले में पहने हुए था।

"ए डब्बा कितने का है ?"—मैं ने चोरी से देखा, चौधरी एक पौडर के डिब्बे की ओर इशारा करते हुए पूछ रहे थे।

अपनी टुरी (लड़की) के लिए खरीद रहे होंगे, मैं ने सोचा, लेकिन आठ आने दाम चुका कर जब वह डिब्बा "लो रानी गुड़िया !" शब्दों के साथ मेरी ओर बढ़ाया गया तो मैं हैरत में पड़ गई।

"अरे अरे चौधरी, ए का करत हो ?"—ददा तुरन्त मुझे बचाने के लिए लपके। उन्होंने चौधरी के हाथ थाम लिए और गद्गद आवाज में कहा—"काहे को भार चढ़ात हो, चौधरी !"

"अरे, एमे का बात हवै ! जइसे तोर नोनी, वइसे मोर नोनी (मेरी बच्ची) ! मोला (मुझे) इतना भी अधिकार नहीं ?"—चौधरी ने कहा।

मैं लालच से डिब्बे की ओर देख रही थी।

सूरज ढल रहा था, मड़ई का शोर उठता जा रहा था।

चौधरी डिब्बा दे कर ही माने। ददा उन के एहसान से दब गए। "बुरा किया चौधरी !"—उन्होंने कहा। चौधरी हंसते रहे।

अचानक चौधरी ने पूछा—"नोनी के फोट्ट खिचा गे ?"

मैं चौंकी। अचानक मुझे याद आ गया, मुझे यहां फोट्ट भी खिचवाना है। मैं ने घबरा कर दाई की उंगली पकड़ ली—ठीक उसी तरह, जैसे मैं छुटपन में करती थी।

"अ···नहीं भाई, अभी तो···"—ददा हकला गए—"बस, सोच ही रहे रहों। कहां हवै फोट्टगराफर, कुछ मालूम ?"

"हां ! हां ! मालूम क्यों नहीं ? चलो, उधर बैठा हवै !"—चौधरी ने एक ओर बढ़ते हुए कहा—"मैं तो समझे था कि अब तक फोट्ट खिचा गे होहीं। चलो भौजी !"—उन की आंखें हम दोनों की ओर घूमीं।

हम दोनों को पीछे-पीछे खिंचना पड़ा। मुझे डर लगा कि फोटू-गराफर के पैसे भी यदि जबर्दस्ती चौधरी ने दिए, तो यह बुरी बात होगी।

एक परदे पर महल, नदी, पहाड़, जगल, चिड़िया, हवाई-जहाज आदि बने हुए थे। सामने एक कुरसी रखी थी और उस के सामने लकड़ी की तिपाई पर बड़ा-सा कैमरा था, जिसे काले लबादे में ढंक दिया गया था। मैं पहले भी कई कैमरे देख चुकी थी। हर मडई में कोई-न-कोई फोटूगराफर जरूर आता था। मैं लोगों को कैमरे के सामने बैठते भी देख चुकी थी, लेकिन खुद कभी नहीं बैठी थी। आज पहली बार मैं फोटू खिंचवा रही थी। दिल धक-धक कर रहा था, चेहरा तमतमा आया था।

फोटूगराफर कैमरे को मेरे सामने ठीक कर रहा था। मैं बेवकूफ की तरह कभी कैमरे के लबादे को, कभी दाई को, कभी ददा को तो कभी चौधरी को भी देख लेती।

अचानक दाई ने कहा—"अरी हिरना, मुंह पे पौडर मल ले। फोटू में चेहरा गोरा आही।"

आसपास खड़ी भीड में से कुछ लोगों के चेहरों पर मुसकराहट दौड़ी। मैं समझ न पाई कि वे क्यों मुसकराए। क्या दाई कोई गलत बात कर रही थी? ठीक तो है, पौडर मलने पर चेहरा गोरा आएगा ही।

दाई ने पौडर का डिब्बा खोला। डिब्बा मोटे, कड़े कागज का बना हुआ था। खोलने पर भीतर एक पारदर्शक कागज का ढक्कन निकला। उस के नीचे गुलाबी पौडर भरा हुआ था। दाई समझ न पाई, उस ढक्कन को कैसे खोला जाए।

चौधरी हंस कर आगे आए और दाई के हाथ से डिब्बा ले लिया। अंगूठा दबा कर उन्होंने पारदर्शक कागज को फाड डाला, फिर मेरी हथेली पर पौडर की दो चुटकियां रख दीं। मैं बड़ी झुंझलाई। भीड़ की आंखें केवल मुझ पर टिकी थीं। मैं ने कभी पौडर नहीं लगाया था

लगाने में कोई-न-कोई गड़बड़ी मैं जरूर कर जाऊंगी। तब मेरी कितनी खिल्ली उड़ेगी। मैं बेवकूफ की तरह दाई की ओर देखने लगी, लेकिन इस का हल उस के पास भी नहीं था।

हार कर उस की नजर चौधरी पर टिक गई। ददा भी उन की ओर देखने लगे।

चौधरी हंसे। हम लोगों के गंवारपन के लिए उन की हंसी में दया भरी हुई थी। उन्होंने मेरे चेहरे पर पौडर मला। इतने सारे लोगों के सामने किसी ने मेरे चेहरे को छूआ। मैं पानी-पानी हो गई। मैं ने ददा और दाई की ओर यों देखा, मानो कह रही होऊं मुझे छुटकारा दिलाओ इस मुसीबत से।

लेकिन अब मैं बिना फोटू खिचवाएँ तो उठ नहीं सकती थी।

चौधरी अभी भी थोड़ा-थोड़ा मुसकरा रहे थे। मैं कुढ़ी।

फोटू खिचा। तीन फोटू के सवा रुपए ददा ने दिए।

मैं ने देखा, फोटू में मैं बेअकल नजर आ रही थी। मेरी आंखें थोड़ी मिचमिचा गई थीं, होंठ मोटे लग रहे थे। नहीं, मैं ऐसी नहीं थी। पौडर लगाने के बावजूद मैं काली लग रही थी।

पौडर का डिब्बा हाथ में प्यार से थामे मैं कुछ खुश, कुछ उदास चल रही थी। अचानक मुझे लगा, चौधरी की आंखें पौडर के डिब्बे पर हैं। मैं ने चौधरी की ओर देखा। झट वह दूसरी ओर देखने लगे। थोड़ी देर के बाद चौधरी फिर से डिब्बे की ओर घूरने लगे। मैं ने उन आंखों में लालच की छाप देखी। मैं ने ददा की ओर आंखें उठाईं। उन्होंने भी चौधरी की चोरी पकड़ ली।

चौधरी से हम तीनों कुढ़े हुए थे। इस बात से हम बौखला गए। मानो चौधरी कोई बड़ी भारी चील हो जो हमें चंगुल में दबा कर हवा में उड़ रही हो…

सूरज पश्चिम की ओर लुढ़क रहा था। मड़ई देख कर लोग वापस जाने लगे थे। हम भी वापस लौटने लगे, क्योंकि रात ददा को गाय-

भैसें दुहनी थी।

कुछ दूर तक हमारी और चौधरी की पगडंडी एक ही थी। एक तिराहे पर उन की पगडंडी अलग फूटी। विदा लेते हुए उन्होंने कहा—"चलो, मडई मे अच्छी मुलाकात हो गिस हम मन (लोगों) की। दुरी का फोटू मैं लेता जाऊं ?"

"जरूर !"—दद्दा ने तीन में से एक फोटू उन्हें थमाते हुए कहा।

फोटू को सम्हाल कर बंडी की भीतरी जेब में रखते हुए उन्होंने फिर से मेरे हाथ के पौडर के डिब्बे की ओर चुभती नजर से देखा। मैं ने हाथ पीछे कर लिए।

और ज्यों ही मैं ने हाथ पीछे किए, दाई ने डिब्बे को मेरी उंगलियों में से निकाल लिया और चौधरी की ओर मुड कर कहा—"चौधरी, एक बात मानबे ?"

"का ?"

"बुरा न लगाओ तो कहूं।"

चौधरी ठुड्डी पर हाथ रख कर नाटक करते हुए-से हंसे—"तोर कहे का का (क्या) बुरा मानना, भौजी !"

दाई ने डिब्बा उन की ओर बढा दिया—"ए डिब्बा ला (को) अपन साथ लेते जाओ। तुम्हार बेटी के हाथ में जियादा सोभा पाही। हम तो गंवार हैं। पौडर-सौडर लगाना का जानें !"

चौधरी पर घडों पानी पड गया। "नहीं-नहीं भौजी, ए का कहत हस।"—किसी तरह उन्होंने कहा। दूसरे ही पल डिब्बा लिए बिना वह मुड कर अपनी पगडंडी पर चलने लगे।

पीछे से हम लोग उन की बंडी की ओर सूनी आंखों से देखते रहे।

"ए जात है। गई !"—कहते हुए दाई ने पौडर का डिब्बा हवा में फेंक दिया। ऊपर डिब्बे का ढक्कन खुल गया। पौडर का गुलाबी बादल उड़ने लगा।

दादा की आंखों में डर और शक के मिले-जुले भाव थे। चौधरी कहीं…

दाई की आंखों में ईंट का जवाब पत्थर से देने का सन्तोष घिरा हुआ था।

मैं डर गई थी।

करतरा मे कल्याण भवन को छोड़ कर बाकी केवल झोपड़िया थी। उन की छतें इतनी नीची थी कि हाथ उठा कर उन्हे छूआ जा सकता था। ज्यादातर झोपड़ियों मे एक भी खिड़की नही थी, जिस से भीतर हर समय अंधेरा रहता था। झोपड़ियो की कच्ची दीवारो से एक खास तरह की बू उठती जो भीतर गाढे कुहरे की तरह घिरी रहती। उन के बाशिंदे उस बू के इतने आदी हो चुके थे कि उन्हें उस का उसी तरह पता नहीं चलता था, जिस तरह हवा का। वे उसी मे पले थे और उसी मे बड़े हुए थे। बडे हो कर भी उस से बाहर निकलने का मौका उन्हे नही मिला था। यही कारण था, क्यों वे अपनी अंधेरी कोठरियों से नाखुश नही थे। कई झोपड़े तो इतने नीचे थे कि भीतर घुसने के लिए सिर झुकाना पडता।

दाई अक्सर मुझे कहानिया सुनाया करती कि कल्याण भवन की शान पहले कितनी दमदार थी। वह बताती कि कल्याण भवन मे अब कुछ भी नही था हालाकि अब भी उस के जैसी हवेली आसपास के पचास गांवो मे भी नही थी।

पहले करतरा गाव बहुत छोटा था। तब कल्याण भवन चारो ओर से एक खूबसूरत फुलवारी से घिरा हुआ था। दाऊ दुखमोचनसिंह को फूलों का बडा शौक था। अब बुढ़ापे ने उस शौक को निगल लिया था। लेकिन तब वह जवान थे, उन की हर मौज जवान थी। दाई अक्सर बताया करती कि वे फूल कैसे विचित्र आकार के थे। उन्हे सात समुन्दर पार से केवल इसी फुलवारी के लिए मंगवाया गया था। दो माली, जिन के अधपक्के झोंपडे फुलवारी की बाड से लगे हुए थे, पूरी तरह चौकस रहकर फुलवारी को सींचते। जब चारों ओर वसन्त बौरा जाता, फुल-

वारी में ढेर सारी तितलियां पंख फड़फड़ातीं। दूर से देखने पर यही लगता, मानो फूलों के ही पंख निकल आए हैं और वे डालियों से जुदा हो कर हवा में तैरने लगे हैं। काजर कारे भौंरे गुन-गुन करते दूर-दूर से वहां खिंचे चले आते। दाऊ की ओर से पांच प्यालियों में शहद, गुड़ और गुलावजल का घोल फुलवारी में अलग-अलग जगह रखा जाता। तितलियां वहां से हटाए न हटतीं।

फुलवारी के पीछे थे इने-गिने झोपड़े, जिन में करतरा के लोग अपने सुख-दुख के साथ वसते थे।

हम लोगों के पुरखे, जो दाऊ के करतरा गांव खरीदने के साथ ही यहां आ गए थे, हवेली के पिछवाड़े में रहते थे। पिछवाड़े में गौशाला थी। वहां दो दर्जन गाएं और करीव उतनी ही भैंसें वंधती थीं। सही मानी में उन दिनों दूध-दही की नदियां वहती थीं। जिन पर दाऊ मेहर-वान हो जाते, उन में मुफ्त दूध-घी वंटा करता।

लेकिन समय वीता, वे नदियां सूख गईं। जमींदारी छिन गई और दाऊ दुखमोचनसिंह अपनी ऐयाश आदतें एकदम न छोड़ पाए। पैसा आना तो वन्द हुआ लेकिन वहना वन्द न हुआ। शरावखोरी और नाचने-वालियों के पीछे दाऊ दीवाने थे। जीहुजूरिए भी उन के खजाने में खूव लूट मचाते थे।

धीरे-धीरे खजाना खाली होता चला। एक दिन फुलवारी विक कर रही। दाऊ ने ऐलान कर दिया कि उन का फूलों का शौक खत्म हो गया, अव फुलवारी वेकार है। लेकिन सव जानते थे कि दिनोंदिन गरीव होते जा रहे दाऊ का यह ऐलान कितना खोखला था।

फुलवारी का जो हिस्सा आंगन के सामने पड़ता था, उसे सरकार ने खरीदा। चुटकियों में उसे उजाड़ दिया गया। सरकार ने वड़ी-वड़ी मशीनें और सैकड़ों मजदूर भेजे। उन्होंने फुलवारी के पौधों को उखाड़ फेंका और वहां मुरम की कच्ची, लाल सड़क वन गई।

दाऊ आंगन में वैठे हुक्का गुड़गुड़ाते रहते। वह हर तरह से दिखाने

की कोशिश करते कि उन्हें फुलवारी की जगह सड़क बनाने का कोई दुख नहीं है, लेकिन उन की बड़ी-बड़ी आखों में कुढ़न झांक ही जाती। गड़-गड़-गड़'''धुए के बादल उड़ते रहते, उन के चेहरे का रंग भी अपने साथ ले जाते'''

फुलवारी का दाहिना हिस्सा उजाड़ कर वहां गोशाला बसाई गई और गोशाला की जगह एक गोटिए (मालदार आदमी) को बेच दी गई। पिछला और बाई ओर का हिस्सा एक अमीर किसान ने खरीदा। कोई किसान किसी दाऊ से जमीन खरीदे! शायद ही ऐसा सौभाग्य किसी और को मिला हो। वह किसान जिधर भी जाता, बधाइयों से उस का स्वागत होता।

दाऊ दुखमोचनसिंह यदि बेहद उदार थे, तो बेरहम भी उतने ही थे। जिस पर खुश हो गए, मालामाल कर दिया, जिस पर नाराज हो गए, जड़ खोद कर मठा डाल दिया। उन के सताए लोगों की संख्या बहुत बड़ी थी। दाऊ के इस पतन ने उन्हें खुश कर दिया। फुलवारी का पिछला और बाया हिस्सा खरीदने वाले किसान को अपने-आप उन लोगों के आशीष मिल गए।

उस किसान ने एक साल तक वहां फलों और सब्जियों की बागवानी की। फूलों से उसे कोई प्यार नहीं था। बाद में उस ने बगीचे को उजाड़ दिया। वह बूढ़ा हो गया था और बगीचे की झझटें अब उस के बस की बात नहीं थीं। उस का बेटा पढ़-लिख कर डाक्टर बन गया था। उसे बागवानी ओछा काम लगता था। बगीचा उजड़ा। उस के स्थान पर कच्चे झोंपड़े खड़े हो गए। उन्हें किराए पर उठा दिया गया। पाच-छह रुपए माहवार पर गरीब लोगों ने उन्हें ले लिया। आलीशान हवेली से लगी हुई वह नीची बस्ती हर समय हवेली और हवेली के बाशिंदों की हंसी उड़ाती'''

दाई ने मुझे बताया था कि जुए में बहुत बड़ी रकम हार जाने के कारण दाऊ को फुलवारी बेचनी पड़ी थी। उस रकम का भुगतान जल्दी

न होता तो दाऊ पर मुसीबत आ जाती। दाऊ ने जुआ किस के साथ खेला, कितनी बड़ी रकम हारी और उस के भुगताए न जाने पर वह कैसे खतरे में जा फंसते, आदि बातें कोई नहीं जानता था, लेकिन उन का परिणाम सब के सामने था।

ददा मुझे उपदेश देते कि जुआ कभी नहीं खेलना चाहिए। वैसे यह उपदेश मुझे देना बेमानी था क्योंकि मैं लड़की थी और जुआ नहीं खेल सकती थी।

गौशाला के कई ढोर किसी बीमारी में मर गए। लोग कहते थे कि दाऊ ने जान-बूझ कर उन की दवा नहीं करवाई। कई तो यहां तक कहते थे कि दाऊ ने उन्हें जहर दे कर मरवा दिया। उन का पालन-पोषण दाऊ के बस की बात नहीं थी। दाऊ चाहते तो गाय-भैंसों का दूध-घी बेच कर उन के लिए चारा-खली जुटा सकते थे, लेकिन उतना दूध-घी बिकवाने के लिए किसी शहर में इन्तजाम करवाना पड़ता, जिस की झंझटें दाऊ के ऐयाश मिजाज को पसन्द न आईं।

जानवरों के मरने के बाद गौशाला में अब तीन गाएं और दो भैंसें बची थीं। उन की काठी मरियल थी। चराते समय ददा इस का बड़ा ध्यान रखते कि उन्हें ज्यादा-से-ज्यादा हरी घास मिले, लेकिन केवल घास पर ही तो जानवर नहीं पलता। जिन्हें तिल की खली के कभी-कभार ही दर्शन होते हों, उन की गर्दनों में मांस आए तो आखिर कैसे!

और एक जमाना था, जब लगभग पूरा करतरा दाऊ की गौशाला से दूध-घी पाता था—मुफ्त में।

जवानी में दाऊ की भरी-भरी मूंछें थीं। वह शिकार के बड़े शौकीन थे। निकलते तो दिनों तक वापस न आते। हवेली के उस कमरे में जो हाथी-दांत लटके हुए थे, उस हाथी का शिकार दाऊ ने ही किया था। उस समय उन की शादी नहीं हुई थी और वह असम के जंगलों की खाक छान रहे थे। अपने मारे हुए शेरों की कई खालें उन के पास थीं।

आज के दाऊ दुखमोचनसिंह में कितना फर्क था! अब दाऊ ने मूंछें

निकलवा दी थी। उन की कमर झुक आई थी, माथे पर चाद निकल चुकी थी। अकड़ कर खड़े रहने की बजाए अब वह लाठी के सहारे खड़े होते। शायद ही कभी चैन से बैठने वाला उन का शरीर अब अधिकतर आरामकुर्सी मे ही धसा रहता।

लेकिन रस्सी जलने पर भी ऐंठन नही गई थी। और यही ऐंठन थी कि क्यों अभी तक ददा उन के ग्वाले बने हुए थे।

दानीपुर नाज की प्रसिद्ध मडी थी। करतरा से वह करीब ४० मील दूर थी। वहा दाऊ मुरारीसिंह की हवेली थी। मुरारी दाऊ के पास हमारे दाऊ से कही ज्यादा पैसा था लेकिन इसे मान लेना हमारे दाऊ के लिए हेठी की बात थी।

दाऊ दुखमोचनसिंह अब केवल एक ही बात के लिए जी रहे थे—हर तरह से अपने को मुरारी दाऊ से ऊचा या कम-से-कम बराबर दिखाने के लिए।

मुरारी दाऊ के पास तीन गाए, दो भैसे थी। हमारे दाऊ ने भी उतनी ही गाय-भैंसे अपने पास रख छोडी थी। मुरारी दाऊ का निजी ग्वाला था। हमारे दाऊ का भी अपना ग्वाला था।

इसी से तो मैं ने कहा कि इस झूठे दिखावे के कारण ही ददा की नौकरी लगी हुई थी। यदि मुरारी दाऊ अपने ग्वाले को रास्ता दिखा देते तो कुछ ही दिनो मे अपने आप ददा की भी नौकरी छूट जाती।

कई बार ददा और दाई बैठ कर बातें करते कि यदि नौकरी चली गई, तो उन्हे कौन-सा धन्धा सब से ज्यादा माफिक आएगा। तब परेशानी, दुख और शक के तार उन के चेहरो पर जाल बुनने लगते। जो काम हम लोग पीढी-दर-पीढी करते आ रहे थे, उस ने हमे और किसी भी काम के लिए निकम्मा बना दिया था।

यह भी तय था कि नौकरी छूटने पर हमे करतरा भी छोडना पडता। करतरा मे जानवर नही के बराबर थे। जो थे, उन्हे पहले एक ग्वाला चरा रहा था।

लेकिन नौकरी छूटने के फिलहाल कोई आसार नही थे। अभी मुरारी दाऊ का ग्वाला नौकरी मे लगा हुआ था।

८

उस दिन काने चौधरी का जो अपमान हुआ, उस के लिए हम लोग बिल्कुल जिम्मेदार नहीं थे। चौधरी का वर्त्ताव ही ऐसा था कि उन्हें सजा मिलनी चाहिए थी। सजा उन्हें मिली जरूर लेकिन उस से कहीं ज्यादा सजा हमें भुगतनी पड़ी। कुछ ही दिनों में सन्देश आया कि फोटू देखने के बाद लड़के ने लड़की को नापसन्द कर दिया है।

मानती हूं, फोटू में मैं उतनी अच्छी नहीं आई थी जितनी कि वास्तव में मैं थी, लेकिन फिर भी उतनी बदसूरत भी नहीं उतरी थी। हमें समझते देर न लगी कि यह केवल एक बहाना है। काने चौधरी ने लड़के वालों को भड़का दिया होगा—लड़की तो गंवार है, बिल्कुल जंगली और बेअदब है।

खूब बदला लिया था उन्होंने। एक बात ददा के मन पर गहरी चोट कर गई। सन्देश में कहलवाया गया था कि हमारा लड़का गरीब के यहां घरजमाई बनने के लिए राजी नहीं है।

ददा कई दिनों तक उखड़े-उखड़े रहे। दाई से उन्होंने कई बार गम्भीरता से कहा कि क्या ही अच्छा हो, यदि छुड़वाए जाने से पहले ही नौकरी छोड़ दी जाए और कोई दूसरा धन्धा आजमाया जाए। उन की दलील थी कि आज नहीं तो कल, मुरारी दाऊ अपने ग्वाले को जरूर निकाल देंगे। तब दाऊ दुखमोचनसिंह भी हमारे साथ यही करेंगे। गांव में हेठी होगी कि लो, इस की नौकरी छूट गई। अपने-आप नौकरी छोड़ने में एक शान थी।

"नहीं, ऐसी गलती झन (मत) करवे!"—दाई की आंखों में भय उभरा—"दाऊ जीना हराम कर देही।"

"कईसे हराम कर देही! उन का हम ने का बिगाड़ा है!" ददा

नाच खा कर बोले।

मैं चुपचाप एक ओर बैठी थी।

"नौकरी छोड़ना ओकर (उन के) बस के [illegible] ने कहा—"ओकर गुस्सा भड़क जाही, तो दुनिया के [illegible] ना देही।"

दाई का कहना ठीक था। ऐसी एक घटना [illegible] कुछ साल पहले एक नौकर दाऊ की नौकरी छोड़ कर [illegible] करतरा गाव भी उस ने छोड़ दिया। लेकिन [illegible] दाऊ के आदमी उस के पीछे पड़े रहे। कभी वे पकड़ [illegible] मरम्मत करते, कभी रात को नग-धड़ंग [illegible] हार कर वह वापस दाऊ की शरण आया। तब दाऊ [illegible] उठे थे। शराब उन पर सवार थी। नौकर गिड़गिड़ाता हुआ [illegible] कदमों पर गिरा। दाऊ ने चिल्ला कर कहा—"जाओ! [illegible] अब कभी इधर मत आना।" पास ही थाल में चांदी के रुपयों का [illegible] लगा था। नाच देखते-देखते चौक की ओर एक-एक रुपया फेंकने की उन की पुरानी आदत थी। रुपयों की मुट्ठी भर कर उन्होंने नौकर की ओर फेंकी। पता नहीं, शराब ने उन के हाथ में कितना जोर ला दिया कि कुछ रुपए नौकर के कपार पर लगे। लहूलुहान हो कर वह नीचे गिर पड़ा।

यही हमारे साथ भी हो सकता था। दद्दा अपनी इच्छा से दाऊ की नौकरी नहीं छोड़ सकते थे। इस में बहुत बड़ा खतरा था। वैसे, हम पर दाऊ का प्यार बहुत था। हम लोग मुफ्त दूध-घी पाते थे। हर तीज-त्योहार पर परिवार के तीनों लोगों के लिए नए कपड़े भी आते।

सौगातें दाऊ से खूब ली जा सकती थीं, लेकिन तनख्वाह बढ़ाना दाऊ के बूढ़े, सनकी दिमाग को जरा भी मंजूर नहीं था। दद्दा को वह केवल पचास रुपए माहवार देते थे। सात रुपए ओसारे का किराया निकल जाता। पहले की तरह अब दाऊ के ग्वाले को ओसारा मुफ्त नहीं मिलता

था । बाकी रुपयों से हम लोग गुजारा तो कर लेते, क्योंकि दूध-घी और आधे से ज्यादा कपड़े तो दाऊ की ओर से ही मिल जाते, लेकिन बचत कुछ भी न होती ।

और ददा चाहते थे, कुछ बचे । कुछ क्यों, काफी बचे और हर माह बचे । तभी तो मेरे लिए दहेज जुटाया जा सकता था । यों बिना दहेज के भी मैं ब्याही जा सकती थी, बिरादरी में उतनी रोक-टोक नहीं थी, लेकिन ऐसी शादी से हमारा मान गिरता । फिर ददा मुझे ससुराल विदा करने के लिए तैयार नहीं थे । मैं उन के जिगर का टुकड़ा नहीं, उन का पूरा-पूरा जिगर थी । वह घरजमाई की तलाश में थे । अच्छे घरजमाई का मिलना काफी मुश्किल था, बिना दहेज के तो और भी मुश्किल ।

एक अच्छा लड़का मिला भी, तो काने चौधरी ने सारा गुड़ गोबर कर दिया । दाई बहुत पछता रही थी कि उस ने उस दिन आवेश में आ कर चौधरी का अपमान कर दिया । यदि उस ने अपने पर काबू रखा होता, तो शायद अब तक इस घर में तीन की बजाए चार लोग होते ।

लेकिन ददा को कोई पछतावा नहीं था । बल्कि वह तो खुश थे कि दाई ने हमारी इज्जत बचाई थी ।

यदि यह शादी हो जाती, तो लड़के के बाप को ददा पूरे एक हजार रुपए देते । दो सौ से अधिक रुपए ददा के पास नहीं थे । वह दाऊ की शरण गए थे और उन की तारीफ के पुल बांधने के बाद अपनी बात सामने रखी थी । खुश हो कर दाऊ ने कहा था कि वह ददा को ८०० रुपए बिना ब्याज के उधार दे देंगे । साथ ही शादी का सारा खर्च, जो तीन, साढ़े तीन सौ के आसपास पड़ता, अपनी ओर से लगाएंगे ।

लेकिन अब तो शादी ही टूट चुकी थी ।

दाऊ के दिए ८०० रुपए किस तरह चुकता किए जाएंगे, इस पर ददा ने कोई ठोस विचार नहीं किया था, बल्कि वह कर नहीं पाए थे । शायद उन के मन में यह आशा छिपी हो कि किसी दिन मौज में आ कर दाऊ वे रुपए माफ कर देंगे ।

दाऊ ने शराब छोड़ी तो नहीं थी, लेकिन अब पहले से चौथाई भी नहीं पीते थे। अब शराब की जगह अफीम लेती जा रही थी। जोरों से चीखने की नई आदत उन्होंने पाल ली थी। वह छोटी-सी बात से चिढ कर बुरी तरह दहाड़ने लगते और उन की वह रहस्यमय लाठी हवा में इधर-उधर उछलने लगती।

काने चौधरी की शरारत के बाद दिन-ब-दिन ददा के मन मे असतोष बढता गया। ग्वाला होना ओछी बात है, ऐसा भूत उन के मन मे खीसे निपोरने लगा था। वह दाऊ की नौकरी छोड़ना चाहते थे। इस नौकरी मे तरक्की नहीं थी, बचत नहीं थी। लेकिन नौकरी छोडना भी कितना खतरनाक था। ठीक सांप-छछूदर जैसी उन की हालत थी। न उगलते बनता था, न निगलते।

दाऊ दुखमोचनसिंह दिन-ब-दिन ज्यादा सनकी होते जा रहे थे और उन की केवल एक सनक हम लोगो को मटियामेट कर सकती थी।

उन से केवल सौगाते मागी जा सकती थी, ज्यादा तनखा नहीं—और सौगातें तनखा की तरह हर माह नहीं ली जा सकती।

सौगातें भी वह तब तक दे रहे थे, जब तक उन की मुरारी दाऊ के साथ होड की सनक चल रही थी। ददा की नौकरी इसी सनक के कच्चे धागे से लटकी हुई थी।

एक दिन बिल्कुल अचानक मुरारी दाऊ करतरा आए।

९

आज ददा गाएं चराने जल्दी चले गए, क्योंकि उन्हें जल्दी लौट आना था।

करतरा से दो मील दूर एक और छोटा-सा गांव था—नीमतरा। वहां एक बूढ़ा कम्पोडर (कम्पाउण्डर) रहता था। पच्चीस साल तक सरकारी ढोर अस्पताल में कम्पोडरी करने के बाद अब उसे पेनसन मिलती थी। दाऊ का कोई जानवर बीमार होता तो इलाज के लिए उसे ही बुलाया जाता।

दाऊ की एक भैंस कुछ दिनों पहले एक बछेरा बियाई थी। वह बड़ा मरियल था। जब वह चार घंटे का हो चुका था, मैं उसे देखने गई थी। वह मुश्किल से खड़ा हो पाता था। दूसरे बछेरे तो पैदा होते ही कुलांचें भरने लगते हैं, लेकिन उस के पैरों में जरा भी दम नहीं था। उस दिन वह बूढ़ा कम्पोडर भी आया हुआ था। वह दोनों हाथों का सहारा दे कर उसे दौड़ने के लिए उकसा रहा था, लेकिन उस की मरियल रगों में तनाव आता ही नहीं था।

दो दिन बाद अचानक उसे दस्त आने लगे और वह आंखें लटका कर जमीन पर यों पड़ गया, मानो अभी मरा अभी मरा। कम्पोडर उस के लिए दवा छोड़ गया था। ददा ने पोले बांस का टुकड़ा जबर्दस्ती बछेरे के मुंह में घुसा कर दूसरे छोर से दवा उंडेल दी। दवा पीने के बाद उस की हालत कुछ ठीक हुई।

ददा ने दाऊ के सामने जा कर कहा—"हुजूर फरमाओ तो मैं अभी कम्पोडर को लेएला चले जाऊं?"

"नहीं।" —आरामकुर्सी में धंसे दाऊ ने अपनी लाठी हिला कर कहा—"शाम को मैदान से जल्दी लौट आवे। शाम को ही जाना ठीक

होही, का समझा ?"

"बने (ठीक) !" —कह कर ददा ढोरों के साथ चरागाह की ओर रवाना हो गए थे। एहिले''' इच् इच्''' वा आ आ आ ! '''देरके !

मैं भी ददा के साथ बीमार बछेरे को देखने गई थी। ददा तो वहीं से मैदान चले गए, क्योंकि शाम को उन्हें जल्दी लौटना था, मैं अकेली झोपड़े को वापस आई। मैं रंग में थी। मैं ने नाटक करते हुए बताया कि किस प्रकार दाऊ ने खरखराती आवाज में कहा—"नहीं ! शाम को मैदान से जल्दी लौट आबे। का समझा ?"

दाई को थोड़ी देर तो मजा आया, फिर अचानक वह डर गई। नाक पर उगली रख कर शी की आवाज करती हुई वह बोली—"चुप भड़वी ! कोनू देख लेही, तो दाऊ ला (को) बता देही।"

मैं चुप हो गई।

दाई बडबड़ाने लगी—"शादी के लायक होगे, लेकिन अक्कल नही आइस।"

मैं उदास हो गई।

ददा गाए चरा कर लौटे, तो मैं आंगन मे अकेली बैठी हुई थी। हल्की-हल्की फुहारें पड रही थीं। दोपहर तक आकाश बिल्कुल साफ था। फिर अचानक मेघ चढ़ आए थे। अन्धेरा घिर गया था। ढलती दुपहरी शाम बन गई थी। फुहारें शुरू हो गई थी। सुई की नोक जितने छोटे पानी के दाने हवा के झोकों में इधर-उधर, आडे-तिरछे, ऊपर-नीचे उडाने भर रहे थे।

ददा ने आगन मे आ कर फुहार मे भीगा बोरा पीठ पर से उतारा और कच्ची दीवार की खूटी से टाग दिया। जहा-जहा बोरा ज्यादा भीग गया था, उस का भूरा रग काला हो गया था।

खूंटी पर बोरा कुछ देर तक झूलता रहा, फिर अचानक भ आंगन मे गिर पडा। उस के वजन मे खूटी उखड गई थी।

"तोर खटिया उट्ठे (तेरी ठठरी उठे) !"—ददा ने उसे

दूसरी खूंटी से टांगते हुए कहा। मैं हंसने लगी। बारे की खटिया भला कैसे उठ सकती थी। ददा ने मेरी ओर देखा और वह भी हंस पड़े। उखड़ी हुई खूंटी को जमीन से उठा कर वह भीतर ले गए और ऊंचे गले से कहा —"कहां गई वो ? चल, बासी ला ! अब्बड़ (बहुत) भूख लगी हवै। पेट मां कुकुर (कुत्ते) बिलबिलात हैं।"

मैं उठ कर भीतर आ गई।

बासी हम लोगों का रोज का खाना था। रात को पकाए गए चावल पानी में भिगो कर रख दिए जाते, सुबह शौक से खाए जाते। जिस पानी में चावल भिगोए जाते, उसे हम पसिया कहते थे। बासी भात खा कर ऊपर से पसिया पी लेनेसे शरीर में खूब ताकत आती थी। ददा और दाई बासी के साथ कुछ भी नहीं लेते थे। केवल बासी ही उन्हें खुश कर देती। मैं बासी के साथ हरी मिर्च, प्याज या खटाई लेना पसन्द करती थी।

दाई ने बासी की हंडिया सामने रखते हुए पूछा—"आज तो तोला (आप को) नीमतरा जाना था न ? कम्पोडर बुलवाए वर ?"

पसिए का घूंट भर कर कौर चबाते हुए ददा ने कहा—"मोर (मेरे) बदले एक दुसर नौकर चल दिस।"

सुबह से ददा ने कुछ नहीं खाया था। दूध के एक गिलास से आखिर होता ही क्या है। दाई ने गुस्से से कहा—"जब दाऊ को दुसर नौकर ही भेजना रहिस, तो तोला क्यों इतनी बिहनिया (सुबह) गऊ चराने भेज दिस ? आग लगे ऐसी नौकरी मां।"

"इसी से तो कहत हौं, ए नौकरी को लात मार के दुसर काम कर लूं।" —ददा हंस पड़े। दाई उन का ताना समझ गई। दाई खुद तो दाऊ की नौकरी को गालियां दे लेती थी, लेकिन अगर ददा कहते कि वह नौकरी छोड़ना चाहते हैं, तो उस की आंखें भय से फट जाती थीं—"ना ना, ऐसी गलती झन (मत) करबे।"

बासी खा कर ददा ने बीड़ी सुलगाई। "चाहिए ?" —दाई की ओर देख कर उन्होंने पूछा। मुझे हंसी आ गई। दाई बीड़ी नहीं पीती थी।

गांव की कुछ औरतों को बीड़ी की आदत थी, लेकिन दाई इस फन्दे में नहीं फंसी थी। यदि दाई बीड़ी पीती होती, तो दादा उस से बीड़ी के लिए शायद कभी न पूछते, लेकिन क्योंकि वह नहीं पीती थी, वह अक्सर उसे चिढ़ाने के लिए बंडल बढ़ा कर पूछते—"पीयें ?" और मुसकराते।

बीड़ी का गहरा कश ले कर दादा ने कहा—"आज एक विचित्र बात हुई।"

"का ?" मैं ने पूछा।

"आज दुपहरिया को अचानक मुरारी दाऊ आ धमकिस।"

मैं उछल पड़ी। मुरारी दाऊ? मुझे अपने कानों पर विश्वास न हो सका। "कउन?" मैं ने पूछा।

"हां हां, मुरारी दाऊ। हमार दाऊ ओकर (उन के) स्वागत में लगे हवें। पूरी हवेली में गज़ब के गड़बड़ मचत है।"

अचानक आकाश में ज़ोर से गड़गड़ाहट हुई।

"अरे!" दादा ने उठ कर चमरौधों में पांव डालते हुए कहा—"अभी मींह आ जाही। मैं चलौं। देर हो जाही वा दाऊ चीरहीं।"

और इस से पहले कि मैं या दाई उन से कुछ पूछ पातीं, वह सिर पर बांस की खपचियों और घास से बना, बड़ा-सा गोल टोप पहन कर, पीठ पर बोरा डाल कर हवेली की ओर रवाना हो गए। पीछे से मैं दुआरे के धुंधलेपन को भेद कर उन की कमर में खुंसी बांसुरी की ओर देखती रही।

मुरारी दाऊ?

मैं ने दाई की ओर देखा। बड़े अचरज की बात थी कि वह [illegible] आए थे। दानापुर यहां से चालीस मील था। सुबह से शाम तक आठ बसें यहां से हो कर गुज़रती थीं। मुरारी दाऊ दोपहर की बस से आए होंगे, मैं ने सोचा, लेकिन वह आए क्यों थे?

मैं १८ साल की हो चुकी थी। इन १८ सालों में एक भी बार मुरारी दाऊ यहां नहीं आए थे। न दाऊ [illegible] ही उन के यहां

गए थे। वह उन्हें अपना कट्टर दुश्मन समझते थे, गुर्गों के जरिए उन के बारे में पूरी जानकारी रखते थे। मुरारी दाऊ को यह मालूम न हो, भला यह कैसे हो सकता था। इसी से बिना किसी इत्तला के उन का करतरा आना कम अचरज की बात नहीं थी।

मैं उत्सुकता के बवंडर में जा फंसी। कैसे होंगे मुरारी दाऊ? कमर झुकी हुई होगी? गोरे होंगे या सांवले? हमारे दुखमोचनसिंह दाऊ तो गोरे हैं। हमारे दाऊ की तरह चिल्ला कर तो बात न करते होंगे?

मेरी आंखों के सामने यह दृश्य उभरा। मान लो, मुरारी दाऊ के पास भी हमारे दाऊ की तरह एक लाठी हो और उन को भी चिल्ला-चिल्ला कर लाठी हवा में उछाल-उछाल कर बात करने की आदत हो। तब दोनों दाऊ आमने-सामने बैठ कर बातें करने लगें, तो कितना मजा आए। मैं मन-ही-मन हंसती रही।

ददा के दाऊ के यहां से लौटने के इन्तजार में हम मां-बेटी एक-दूसरी से सट कर बैठी रहीं। एक-एक पल मानो भारी पड़ रहा था। मुरारी दाऊ के साथ ददा की नौकरी का सवाल बंधा हुआ था। गांव के और लोगों के लिए उन का आना केवल उत्सुकता का विषय हो सकता था, लेकिन हमारी उत्सुकता में चिन्ता भी आ मिली थी।

मेरा बस चलता तो मैं इसी समय दौड़ कर कल्याण भवन पहुंच जाती और देख आती, कैसे हैं मुरारी दाऊ, लेकिन कल से मुझे बहुत तेज जुखाम हो गया था। बाहर पड़ रही फुहारें अब बारिश में बदल चुकी थीं। भीगना मेरे लिए ठीक नहीं था। मैं तो खैर भीगने से क्या डरती, लेकिन दाई के रहते मेरा घर से बाहर निकलना मुश्किल था।

छत से चूअन होने लगी। हम दोनों ने टपकन की जगहों पर एक-एक बरतन रख दिया। थोड़ी ही देर में बरतनों में काफी पानी भर गया। चूअन की बूंदें पानी में गिरतीं तो बद्! टप् की आवाजें होतीं।

दो मोटे-मोटे मेंढक भीतर आ गए। और इधर-उधर उछलने लगे। "दुर्र!" —दाई ने उन्हें झाड़ू से बाहर की ओर बुहार दिया।

ददा इस समय मुरारी दाऊ के स्वागत में हाथ बटा रहे होंगे, मैं ने सोचा। मुरारी दाऊ अच्छे मौसम में नही आए थे। हवा गीली थी और गाढ़ा होता जा रहा अन्धेरा बहुत बुरा लग रहा था।

रात को करीब नौ बजे ददा वापस लौटे। वह हस रहे थे। हंसते-हंसते उन्होंने बताया कि हमारे दाऊ ने मुरारी दाऊ का आना बिल्कुल पसन्द नही किया था। मुरारी दाऊ के सामने तो वह बहुत भले बने रहे थे, लेकिन ज्यो ही मुरारी दाऊ आराम करने के लिए लोहे की सीढियां चढ़ कर ऊपर गए, दाऊ के मुंह से फुसफुसाहटो के रूप मे गालिया निकलनी शुरू हो गई थी।

मुरारी दाऊ अकेले नही आए थे। दो नौकर, एक भतीजा और एक बेटा भी उन के साथ थे। मुरारी दाऊ को हवेली की पहली मंजिल पर ठहराया गया था जिस से वहा हमारे दाऊ के साथ वह आराम से बातें कर सकें और यदि शतरज की बाजी लग जाए, तो कोई उन्हे खलल न पहुचा सके।

नीचे वाला वह जो सजा-धजा, हाथीदांत और शेर की खालो वाला कमरा था, वहा उनके भतीजे और बेटे को ठहराया दिया गया था।

दोनो नौकर गौशाला के पास एक कोठरी मे ठहराए गए थे। वहां सफाई करने में ही ददा का समय लग गया था।

ददा ने हमें समझाया कि इस तरह अचानक आ कर मुरारी दाऊ ने एक चाल खेली थी। यदि वह पहले से आने की इत्तला कर देते, तो दाऊ दुखमोचनसिंह अपनी सारी पोलो पर परदा डाल देते। जैसे, कल्याण भवन मे कुछ दरारें पड़ गई थी, उन्हे मुदवा दिया जाता। कुछ दीवारें पीली पड गई थी, उन पर पुताई हो जाती। गौशाला भी बहुत गन्दी हो गई थी। तीनों बहुओं के कमरो मे तो पुताई होनी बहुत ही जरूरी थी। धुए के कारण रसोईघर की दीवारें काली पड़ गई थी।

और हां, रसोई बनाने के लिए भी गाव के पटवारी की बहू और बेटी को मुफ्त मे बुलवा लिया जाता और मुरारी दाऊ पर रौब गांठा

जाता कि हमारे यहां की वहुओं को रसोई वनाने की तकलीफ नहीं दी जाती। इसी तरह की और भी कई छोटी-वड़ी वातें थीं, जिन्हें मुरारी ताऊ ने बिल्कुल अचानक आ कर देख लिया था।

मुरारी दाऊ की इस चालाकी से मैं दंग रह गई। थोड़ा डर भी लगा, जाने क्यों।

मैं ने पूछा—"ददा, ओकर (उन की) कमर झुकी हवै?"

"अरे नहीं, वह तो सांड की तरह तन्ना के खड़े होथैं।"—ददा ने कहा और खुद उसी तरह खड़े हो कर दिखाया। हम दोनों हंस पड़ीं।

"ओकर तोंद भी हवै।"—ददा ने दोनों हाथ कमीज के नीचे डाल कर कपड़े को आगे फुलाते हुए कहा। वह पूरी मौज में थे।

"मूंछें?"—मैं ने पूछा।

"मूंछें भी हवै चेहरे पै।"—कह कर ददा ने अपनी मूंछों पर ताव दिया।

ददा ते वताया कि दूसरे दिन मुझे भी काम करने के लिए कल्याण भवन चलना होगा। मैं वड़ी खुश हुई। पानी में भीगने पर मेरा जुखाम और वढ़ जाएगा, यों कह कर दाई ने मुझे जाने से मना किया लेकिन ददा न माने—"जाना तो जरूर पड़ही।"—उन्होंने कहा—"दाऊ की आज्ञा हवै।"

दाई ने कहा—"एकर (इस के) वदले मैं चली चलहूं।" लेकिन ऐसा नहीं हो सकता था। उस के पैर की उंगलियों में पानी के कारण जो सड़ांध पैदा हो गई थी, वह अभी तक ठीक नहीं हुई थी। यह सड़ांध मेरे जुखाम से कहीं ज्यादा खतरनाक थी। उस के कारण दाई तेजी से चल भी नहीं सकती थी। वाहर निकलने पर उस के पांव जरूर भीगते, जिस से सड़ांध और वढ़ती।

दूसरे दिन सुबह कल की ही तरह सुनहरी धूप निखर आई, जिस से दाई के मन में यह बात हट गई कि मेरा जुखाम बढ़ जाएगा और हो सकता है, मुझे बुखार भी आ जाए।

क्योंकि मुझे मुरारी दाऊ के सामने जाना था, मैं ने रोज की तरह मैली धोती न पहनी। आज पोलका पहनना भी जरूरी था। बालों में तेल डाल कर कंघी कर चुकी तो ददा भी सफेद धोती और मोटे, लाल कपड़े की अचकन पहन कर तैयार हो चुके थे। पीली पगड़ी बांध कर उन्होंने चमरौंधा पहना तो मैं अपनी जूतियां पहन चुकी थी। बरसात के दिनों में ददा का चमरौंधा चूं-चूं नहीं बोलता था।

जब हम लोग कल्यान भवन पहुंचे तो सामने की मुरमी, लाल सड़क पर बच्चों और बड़ों की खासी भीड़ लगी थी। सड़क से तीन फुट ऊंचे चौगान में दो आरामकुर्सियां डली थीं। एक में हमारे दाऊ बैठे थे। उन्होंने रेशमी कुर्ता और बारीक धोती पहनी थी, पैरों में रबर की झक-झक सफेदी सलीपर थीं।

दूसरी में बैठे थे मुरारी दाऊ।

सचमुच वह वैसे ही थे, जैसे मैं ने सोचा था। गोरा, कसा हुआ शरीर, बड़ी-बड़ी लम्बी आखें, भरी हुई मूछें, घुघराले बाल। सफेद धोती और सफेद कुर्ते में वह खूब जच रहे थे।

ददा ने बताया था कि मुरारी दाऊ न शराब पीते थे, न अफीम खाते थे। न उन्हें हुक्के की आदत थी। इसी से उन का डील इतना अच्छा था। फिर वह हमारे दाऊ से कई साल छोटे भी तो थे। उन के लहरीले बालों में जितने बाल काले थे, उतने ही सफेद थे। यही हाल मूछों का था। गले में सोने की चेन थी। हमारे दाऊ ने भी आज सोने

की चेन डाल रखी थी। वह, अपनी आदत से लाचार, हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे।

दो लड़के, जो मेरी उम्र के रहे होंगे, दो कुर्सियों पर बैठे थे। दोनों नीली पेण्ट और सफेद कमीज पहने हुए थे। उन का रंग साफ और गाल भरे हुए थे। उन में से एक का चेहरा मुरारी दाऊ से मिलता-जुलता था। मैं ने अन्दाजा लगाया कि वह उन का बेटा और दूसरा भतीजा या भानजा वगैरह होगा।

चौगान के सामने इस लिए भीड़ लगी थी कि एक मदारी दोनों दाउओं के सामने वंदरिया का खेल दिखा रहा था। उस के पास एक भालू भी था, जो एक ओर चुपचाप बैठा था।

ददा ने कहा—"मैं गाय दुहने जात हौं, तैं मदारी का तमासा देख।"

मैं भीड़ में घुसी।

तड़ तड़ तड़ ! डुगु डुगु डुगु ! डमरू वज रहा था।

"ऐ वंदरिया ! ससुराल जावे ?"

वंदरिया ने सिर हिलाया—ऊंहुं !

"क्यों नहीं जावे ?" मदारी ने अगला सवाल किया।

वंदरिया ने पास पड़ी लाठी उठा ली। मदारी हंसा—"डौका डंडा मारथै ?"

वंदरिया ने सिर हिलाया—हां। और जमीन पर एक गुलांट खाई। वच्चे हंस पड़े।

मुरारी दाऊ ने कहा—"मदारी तुम्हारा भालू का करथै ?"

पहली वार मैं ने उन की आवाज सुनी। रौबीली आवाज !

वंदरिया का नाच खत्म हुआ। भालू अपने काले, थलथल डीलडौल के साथ आया।

डुगु डुगु डुगु !

"भालू रे, भलुआइन किधर गिस ?"

भालू जमीन पर बैठ गया—आदमियों की तरह। दोनों अगले पंजे

आखों पर मलने लगा।

"मत रो ! मत रो ! नई दुलहनिया आही।"

दुलहनिया ! शादी ! मुझे गुदगुदी होने लगी।

भालू उठ खडा हुआ। नई दुलहनिया मिलने की बात से खुश हो गया हो, यों कूरहे उछाल-उछाल कर, पांव पटक-पटक कर नाचने लगा।

सभी खेल हो चुके, तो मदारी ने दाउओ की तारीफ के लम्बे-चौड़े पुल बांधे, बदरिया ने सलाम ठोंके, भालू ने लेट-लेट कर प्रणाम किए।

बदरिया हमारे दाऊ के पास पहुच चुकी थी। उन्होंने जेब से दो रुपए का नोट निकाल कर उस के हाथ मे दिया। मुझे डर लगा, कही बदरिया नोट फाड न दे, लेकिन वह छलाग लगा कर मदारी के कधे पर जा बैठी और नोट उस की जेब मे सरका दिया। फिर वह मुरारी दाऊ के पास जा खडी हुई।

मुरारी दाऊ मुसकराए। मैं ने देखा, उन्होंने एक तीखी और गहरी नजर हमारे दाऊ की ओर फेंकी। फिर जेब से पाच का नोट निकाला और बदरिया के हाथ मे थमा दिया। बदरिया ने मदारी की ओर छलाग लगाई।

दाऊ दुखमोचनसिंह की बूढी आखो में कई भाव आए और चले गए। यह उन्हे साफ चुनौती थी। मदारी उनको बिल्कुल भूल चुका था और मुरारी दाऊ के गुण गा रहा था। उन की भौंहे टूटी। इशारे से उन्होंने मदारी को पास बुलाया। मैं ने उन्हे जेब से दस का करारा नोट निकालते देखा।

मदारी खिल कर बागबाग हो गया। दोनो दाउओ की आपसी जलन का वह गहरा फायदा उठा रहा था। दस का नोट टेंट मे खोंस कर उसने दाऊ दुखमोचनसिंह के हजार साल जीने की दुआए की और मुरारी दाऊ की ओर मतलबी आंखें फेरी।

चारों ओर चुप्पी छा गई थी। मैं उत्तेजित हो गई थी। मैं ने अभी तक दस से बड़ा नोट नही देखा था। क्या मुरारी दाऊ अब सौ का नोट

की चेन डाल रखी थी। वह, अपनी आदत से लाचार, हुक्का गुड़गुड़ा रहे थे।

दो लड़के, जो मेरी उम्र के रहे होंगे, दो कुर्सियों पर बैठे थे। दोनों नीली पेण्ट और सफेद कमीज पहने हुए थे। उन का रंग साफ और गाल भरे हुए थे। उन में से एक का चेहरा मुरारी दाऊ से मिलता-जुलता था। मैं ने अन्दाजा लगाया कि वह उन का बेटा और दूसरा भतीजा या भानजा वगैरह होगा।

चौगान के सामने इस लिए भीड़ लगी थी कि एक मदारी दोनों दाउओं के सामने बंदरिया का खेल दिखा रहा था। उस के पास एक भालू भी था, जो एक ओर चुपचाप बैठा था।

ददा ने कहा—"मैं गाय दुहने जात हौं, तैं मदारी का तमासा देख।"

मैं भीड़ में घुसी।

तड़ तड़ तड़ ! डुगु डुगु डुगु ! डमरू बज रहा था।

"ऐ बंदरिया ! ससुराल जावे ?"

बंदरिया ने सिर हिलाया—ऊंहुं !

"क्यों नहीं जावे ?" मदारी ने अगला सवाल किया।

बंदरिया ने पास पड़ी लाठी उठा ली। मदारी हंसा—"डौका डंडा मारथै ?"

बंदरिया ने सिर हिलाया—हां। और जमीन पर एक गुलांट खाई। बच्चे हंस पड़े।

मुरारी दाऊ ने कहा—"मदारी तुम्हारा भालू का करथै ?"

पहली बार मैं ने उन की आवाज सुनी। रौबीली आवाज !

बंदरिया का नाच खत्म हुआ। भालू अपने काले, थलथल डीलडौल के साथ आया।

डुगु डुगु डुगु !

"भालू रे, भलुआइन किधर गिस ?"

भालू जमीन पर बैठ गया—आदमियों की तरह। दोनों अगले पंजे

बड़ी और छोटी बहू उठाए हुए थीं।

मुझे देखते ही मंझली बहू ने कहा—"कस गा (क्यों) रामदरस, ए टुरी तो दिन दूनी रात चौगुनी बढत जात है ?"

दद्दा छाती फुला कर मुसकराए। मैं दौड़ते-दौड़ते रुकी और सकुचा गई। दद्दा के चेहरे पर रेखाएं बनीं—"एकर (इस की) शादी की कहीं ठौर नहीं पड़त है। एक लड़का मिले रहसि, तो बात चली नहीं…"

मैं झपट कर रसोईघर में चली गई। शादी की बातचीत शुरू होते ही सामने खड़ी रहना मेरे लिए मुश्किल हो जाता था।

भीतर गांव के पटवारी की बहू और बेटी चूल्हे के धुएं से जूझ रही थीं। उन की आंखों और नाक में पानी बह रहा था जिसे वे साड़ी के पल्लू से पोंछ लेती थीं। मैं भीतर घुसी तो झुंझलाहट-भरी हंसी हंस रही थी। उन दोनों को कल बुलवाया न जा सका था क्योंकि मुरारी दाऊ बिलकुल अचानक आए थे। उन्होंने बहुओं को रसोईघर में काम करते देख लिया था लेकिन पोल खुल जाने पर भी आज इन दोनों को बुलवा कर रसोई बनवाई जा रही थी। भीतर कोई बहू नहीं थी।

मुझे देखते ही दोनों खुल कर हंसने लगीं। एक ने होले से कहा—"आ गे हिरना? बेगार करने ?"

मैं मुसकराई—"तुम भी तो बेगार करत हो।"

"का करें बहनी, दाऊ का कहा न मानें, तो जाए कहां ?"—दूसरी ने परात में फैले आटे में पानी डालते हुए कहा।

थोड़ी देर में आटा बंध गया और वह उसे गूंधने लगी। दोनों मुट्ठियों को आटे में दबा कर वह उस पर पूरी-की-पूरी हुमच जाती। उस ने पोलका नहीं पहना था। गोदना गुदे उस के नंगे सावरे हाथ में छोटी-छोटी मछलियां पड़ रही थीं। वह आटे पर हुमचती, तो उस की साड़ी आगे से झूल जाती।

मैं दोनों को जरूरी चीजें उठा-उठा कर देती रही। जिस से उन के काम करने में काफी तेजी आ गई। बड़ी बहू कहा है, छनेपपर मुझे

निकालेंगे ? कैसा होता है सौ का नोट ?

अचानक मुरारी दाऊ जोर से हंस पड़े। बोले—"भई मदारी, हम तो गरीब आदमी हवें, पांच से ज्यादा कईसे इनाम दें !"

मदारी की आंखें बुझ-सी गई लेकिन तुरंत उस ने मशीन की तरह कहना शुरू कर दिया—"अरे माई-बाप ! कैसी बात करत हो माई-बाप ! इतना ही का कम है माई-बाप ! अबे ओ भलुआ ! ओ छिनाल बंदरिया कहां चली ?"

डुगु डुगु डुगु ! तड़तड़ाक् ! तड़तड़ाक् !

बंसी बजाते हुए उस ने विदा ली। भीड़ बिखरने लगी।

मुरारी दाऊ अभी तक मुसकरा रहे थे। मैं बेवकूफ की तरह उन की ओर देख रही थी। कैसे हैं मुरारी दाऊ! सब के सामने कह दिया, "हम तो गरीब आदमी हवें !"

या यह हमारे दाऊ पर चोट है ?

दाऊ दुखमोचनसिंह मुसकराते हुए मुरारी दाऊ से कोई बात कह रहे थे, लेकिन उन की मुसकान नकली थी और साफ देखा जा सकता था कि वह बात केवल कहने के लिए कही जा रही है। मुझे अच्छा न लगा कि कोई हमारे दाऊ को यों नाराज और परेशान करे। मैं ने गुस्से से मुरारी दाऊ की ओर देखा लेकिन पता नहीं क्यों, मैं उन से उतनी नफरत न कर पाई, जितनी मैं करना चाहती थी।

अचानक मुझे ध्यान आया कि मैं अकेली खड़ी हूं। तुरंत मैं गलियारे से हो कर हवेली के अन्दर दौड़ गई।

वहां एक छज्जे के नीचे मंझली बहू से बातें करते हुए ददा खड़े थे।

मंझली बहू मुझे अच्छी नही लगती थी। मुझे तो बड़ी बहू अच्छी लगती थी, जो हर समय हिंडोले पर बैठ कर पान नहीं खाती थी। मंझली बहू के पास एक चांदी का पानदान था। उस में से निकाल-निकाल कर वह जब देखो, पान चबाती रहती और मुझे लगता, उस का मुंह उस का नहीं बकरी का है। वह बड़ी कामचोर थी। हवेली का सारा बोझ तो

जी हुआ, भाग जाऊं, पर बैठी रही।

तभी दरवाजे पर ददा आ खड़े हुए। "रामराम बड़ बाई! रामराम छोट बाई!" उन्होंने बहुओं को रामराम किया, फिर मेरी ओर देख कर बोले—"अरे रोगही! तं हिया बईठी हस? जा, रसोई में काम कर। कामचोट्टी कहीं की!"

मैं उठ कर जाने लगी, तो बड़ी बहू ने हाथ बढ़ा कर मेरी साड़ी का छोर पकड़ लिया—"बईठ हिरना, फिर चली जावे।" मैं ददा की ओर देखती हुई बैठ गई।

"क्यों रामदरस?"—उस ने ददा की ओर देखा—"इस की शादी करने वाले हो?"

"हां, कोनू बने (कोई अच्छा) लड़का मिल जाए तो···!"—ददा दरवाजे के चौखुटे पर उकड़ू बैठते हुए बोले। उन्होंने पगड़ी उतार कर माथे पर हाथ फेरा, पगड़ी पहनी और कुछ झेंपते हुए, मुसकराते हुए कहा—"चाहत हौं, कोनू घरजमाई बने वर तैयार हो जाए तो···"

मैं फर्श की ओर देखती रही।

"एला (इसे) पढाया-लिखाया क्यों नहीं? अपने-आप कोनू मिल जाता। मैं तोला (तुम्हे) शुरू से कह रखे रहौं कि टुरी ला (को) जरूर पढ़ावे लेकिन माने वो रामदरस कैसा!"—बड़ी बहू ने छोटी के बालों को झटका दिया। छोटी ने एक हल्की सिसकारी की।

मैं ने आखें बड़ी की ओर उठाईं। उस के शब्द मेरे कानों मे गूंजने लगे···एला पढाया-लिखाया क्यों नहीं?···अपने-आप कोनू मिल जाता···

क्या बड़ी बहू सच कह रही है? पहली बार मुझे पता चला, शादी के लिए लड़की को पढ़ाना चाहिए।

करतरा मे एक पराइमरी स्कूल था। गाव के करीब-करीब सभी लड़के वहा दस से पाच तक पढ़ने जाते थे। गाव की गलियों मे गोबर इकट्ठा करते समय मैं ने कई बार उन की मिली-जुली आवाजें सुनी थीं··· ग गनेस के ग···म मछरी के म···लेकिन स्कूल मुझे भी जाना चाहिए,

यह कभी सोचा ही नहीं था मैं ने। गांव की टुरियां स्कूल जाती जरूर थीं, लेकिन उन की गिनती नहीं के वरावर थी। ज्यादातर टुरियां मेरी तरह अपनी दाइयों को कामकाज में मदद करतीं या गलियों-नुक्कड़ों पर पड़ा गोवर टोकरियों में भर कर कंडे वनाने या आंगन लीपने के लिए घर ले जातीं।

यदि मैं थोड़ा-वहुत पढ़-लिख गई होती, तो पौडर कैसे लगाना चाहिए, यह मुझे जरूर मालूम होता। फोटू खिचवाते समय कैमरे के सामने कैसे वैठना चाहिए, यह मैं जान गई होती। तव काने चौधरी के सामने उस दिन मड़ई में जो मेरा फजीता हुआ था, वह न हो पाता और तव शायद ...हां, तव शायद मेरी शादी भी न टूटती।

मैं ने ददा की ओर देखा। वह मुसकरा रहे थे—"वाई! हम मन (लोग) टुरी जात को स्कूल भेजना पाप समझथैं। स्कूल में भरस्टाचार होथै। लड़की के जात..."

"पाप? इस में कैसा पाप, रामदरस? भ्रष्टाचार की वात भी तुम झन करो। समझदार लड़की कहीं खराव नहीं होथे। नासमझ घर-घुसरी हो तो भी भाग जाथे।"

"वात तो ठीक है, लेकिन..." —और ददा उठ खड़े हुए। वड़ी वहू को वह वातों में नहीं जीत सकते थे। ऐसे मौकों पर उठ कर चले जाना ही उन की आदत थी।

"जानवरों को चराए वर ले जाऊं।" —कहते हुए वह चलते वने। जाते-जाते मुझ से कह गए—"देख हीरू, शाम तक यहीं काम करवे, का समझी?"

उन के जाने के वाद वड़ी वहू ने मेरी ओर देखा। कहा—"अभी मौका है, पढ़-लिख जा।"

मैं ने यों सिर हिलाया, मानो किसी ने जादू कर के ना करने की मेरी सारी ताकत लूट ली हो।

दोपहर के भोजन की तैयारियां हो गई थी। पटवारी की वहू और बेटी ने मीठी व नमकीन चीजें तैयार कर ली थी। मैं ने आठ पीढ़े बिछाए —आमने-सामने दो-दो की जोड़ियों में। एक पीड़े पर बैठ कर दूसरे पर थाल रखा जाना था। चार जोडियां बनी, दो दाउओं के लिए, दो मुरारी दाऊ के बेटे व भतीजे (या भानजे) के लिए।

लेकिन जब मुरारी दाऊ आगन मे आए, तो साथ मे उन के दोनो नौकर भी थे। मैं दंग रह गई। क्या नौकर भी दाऊ के साथ बैठ कर खाना खाएंगे ? मैं ने उन के लिए पीढ़े नही बिछाए थे। मैं ने तो सोचा था, वे कल्याण भवन के नौकरों के साथ बैठ कर भोजन करेंगे। रिवाज के मुताबिक यही होना चाहिए था। उन नौकरो ने नई पोशाकें पहनी थी।

मैं ने हैरत से दाऊ दुखमोचनसिंह की ओर देखा, जो अपनी झुकी कमर के साथ एक ओर खड़े थे।

मुरारी दाऊ ने मेरी ओर मुसकान फेंकी—"कस (क्यों) टुरी, और पीढ़े नही लावे ?"

मैं ने दौड़ कर नौकरों के लिए भी पीढ़े बिछाए।

अभी तक सब खड़े थे, बैठा कोई न था। कौन कहा बैठे, यह भी एक सवाल था। नौकर किन पीढ़ो पर बैठेंगे, यह मैं समझ नही पा रही थी।

दोनों लडके मेरी ओर ताक रहे थे।

दाऊ दुखमोचनसिंह की उलझी हुई आवाज मैं ने सुनी—"कस सह-नाओ (साथी), ये नौकर भी···"

वाक्य पूरा न हो सका। बीच में ही मुरारी दाऊ ने कहा—"हो-

हां, क्यों नहीं, हम सब साथ बईठेंगे। गांधीजी हरिजन में बईठत रहिस, तो हम क्यों नहीं बईठ सकते ?"

बात कुछ इस तरह कही गई कि यदि हमारे दाऊ ना करते, तो मतलब यही निकलता कि वह पिछड़े हुए, असभ्य और कुएं के मेंढक हैं। उन्हें कहना पड़ा—"अच्छा, ठीक है, बईठो।"

पीढ़ों की कतार लगी थी। एक छोर पर हमारे दाऊ बैठे। मुरारी दाऊ लपक कर दूसरे छोर के पीढ़े पर बैठ गए और मुसकरा कर बोले —"दूर बैठने से ज्यादा प्यार आथै। ठीक हवै न, दाऊ ?"

हमारे दाऊ हंसे।

दोनों दाउओं के बीच में पीढ़ों की चार जोड़ियां खाली थीं। दोनों लड़के मुरारी दाऊ के पास बैठ गए। नौकर हमारे दाऊ से लग कर बैठे, मानो उन्हें सिखा कर लाया गया हो कि कहां बैठना है। दाऊ के चेहरे पर कचोट तैरी। कल्याण भवन के इतिहास में यह पहली घटना थी, जब मालिक और नौकर साथ-साथ बैठ कर खाना खा रहे थे।

मैं पानी के लोटे भर चुकी थी। छोटे-छोटे तौलिए भी हर पीढ़े के पास रखे जा चुके थे।

सब के सामने थाल आए।

मुरारी दाऊ ने दूधपाक का घूंट पी कर कहा—"कस सहनाओ, कल्याण भवन में चीनी कम खाई जाती है का ? हम लोग तो खूब चीनी खाथें।" —मानो कह रहे हों, यहां चीनी खाने में कंजूसी होती है।

दाऊ चीखे—"क्यों पंडितानी ! चीनी का अकाल पड़ गे हवै का ?"

पंडितानी शब्द रसोई की ओर उछाला गया था। यह सम्बोधन पटवारी की बहू और बेटी में से किस के लिए था, समझे बिना मैं रसोई में भागी।

पटवारी की बहू का चेहरा फक पड़ गया था। कटोरे में चीनी और चम्मच ले कर मैं बाहर आई। उस समय तक पटवारी की बेटी दूधपाक चख चुकी थी और दंग होती हुई कह रही थी—"चीनी तो बिल्कुल ठीक

हवै। सायद मुरारी दाऊ के हिया जादा खाव होही।"

मुरारी दाऊ ने दो चम्मच चीनी अपने कटोरे में डाली। यही दोनों नौकरों और उन लड़कों ने भी किया जो बिल्कुल चुप बैठे थे।

हमारे दाऊ को भी दो चम्मच चीनी लेनी पड़ी। चम्मच को कटोरे में हिलाते हुए बोले—"पता नहीं आज पंडितानी ने कम चीनी कैसे डाली। रोज तो ठीक पडथैं।"

"रोज?" —मुरारी दाऊ का मुँह खुला रह गया। "आप लोग रोज दूधपाक खाथौ?"

दाऊ सिकुड़ गए। बात का खोखलापन पकड़ में आ गया था। तुरंत उन्होंने भूल सुधारी—"रोज से मोर (मेरा) मतलब है, जब भी दूधपाक बनथैं। वैसे...अकसर बनथैं।"

"जरूर बनत होही!" —मुरारी दाऊ ने दूसरा तीर छोड़ा—"मैं तो सोचत रहौं, रोज दूधपाक खा के आप मन (लोगों) के पेट खराब कईसे नहीं हो गिस।"

इधर-उधर की बातें होती रहीं। हमारे दाऊ क्रुद्ध रहे थे। छिपाने की पूरी कोशिश के बावजूद वह कुढ़न उन की बातों में उभर आती थी।

मुरारी दाऊ ने पूछा—"तुम्हार तीनों बेटे बाहर हैं का?"

"हाँ। छोटा तो अभी कालिज में पढ़त है, मझला अऊ बड़ा दखिउन हिन्दोस्तान की सैर को गे हवैं।" —दाऊ ने झुकी कमर को उठाने की कोशिश की।

एक माह से दाऊ के बड़े और मझले बेटे घूमने के लिए दक्षिण भारत गए हुए थे। अब वे १०-१५ दिनों में वापस लौटने वाले थे। यह बात दाऊ ने बड़े उत्साह से कही, लेकिन मुरारी दाऊ ने तुरंत उसे काट दिया—"मोर बड़ा बेटा कब का पूरा हिन्दोस्तान घूम आइस। अब सरकार बोला (उसे) जरमनी भेजने वाली हवै।"

दाऊ दुखमोचनसिंह की आखें फैलीं और सिकुड़ गईं। उन्होंने इस में कोई दिलचस्पी न दिखाई।

हां, क्यों नहीं, हम सव साथ वईठेंगे । गांधीजी हरिजन में वईठत रहिस, तो हम क्यों नहीं वईठ सकते ?"

वात कुछ इस तरह कही गई कि यदि हमारे दाऊ ना करते, तो मतलव यही निकलता कि वह पिछड़े हुए, असभ्य और कुएं के मेंढक हैं। उन्हें कहना पड़ा—"अच्छा, ठीक है, वईठो ।"

पीढ़ों की कतार लगी थी । एक छोर पर हमारे दाऊ वैठे । मुरारी दाऊ लपक कर दूसरे छोर के पीढ़े पर वैठ गए और मुसकरा कर वोले —"दूर वैठने से ज्यादा प्यार आथै । ठीक हवै न, दाऊ ?"

हमारे दाऊ हंसे ।

दोनों दाउओं के वीच में पीढ़ों की चार जोड़ियां खाली थीं । दोनों लड़के मुरारी दाऊ के पास वैठ गए । नौकर हमारे दाऊ से लग कर वैठे, मानो उन्हें सिखा कर लाया गया हो कि कहां वैठना है । दाऊ के चेहरे पर कचोट तैरी । कल्याण भवन के इतिहास में यह पहली घटना थी, जव मालिक और नौकर साथ-साथ वैठ कर खाना खा रहे थे ।

मैं पानी के लोटे भर चुकी थी । छोटे-छोटे तौलिए भी हर पीढ़े के पास रखे जा चुके थे ।

सव के सामने थाल आए ।

मुरारी दाऊ ने दूधपाक का घूंट पी कर कहा—'कस सहनाओ, कल्याण भवन में चीनी कम खाई जाती है का ? हम लोग तो खूव चीनी खाथें ।" —मानो कह रहे हों, यहां चीनी खाने में कंजूसी होती है ।

दाऊ चीखे—"क्यों पंडितानी ! चीनी का अकाल पड़ गे हवै का ?"

पंडितानी शव्द रसोई की ओर उछाला गया था । यह सम्वोधन पटवारी की वहू और वेटी में से किस के लिए था, समझे विना मैं रसोई में भागी ।

पटवारी की वहू का चेहरा फक पड़ गया था । कटोरे में चीनी और चम्मच ले कर मैं वाहर आई । उस समय तक पटवारी की वेटी दूधपाक चख चुकी थी और दंग होती हुई कह रही थी—"चीनी तो विल्कुल ठीक

हवै। सायद मुरारी दाऊ के हियां जादा खाव होही।"

मुरारी दाऊ ने दो चम्मच चीनी अपने कटोरे में डाली। यही दोनों नौकरों और उन लड़कों ने भी किया जो बिल्कुल चुप बैठे थे।

हमारे दाऊ को भी दो चम्मच चीनी लेनी पड़ी। चम्मच को कटोरे में हिलाते हुए बोले—"पता नहीं आज पंडितानी ने कम चीनी कैसे डाली। रोज तो ठीक पड़थे।"

"रोज ?" —मुरारी दाऊ का मुंह खुला रह गया। "आप लोग रोज दूधपाक खायो ?"

दाऊ सिकुड़ गए। बात का खोखलापन पकड़ में आ गया था। तुरंत उन्होंने भूल सुधारी—"रोज से मोर (मेरा) मतलब है, जब भी दूधपाक बनथे। वैसे'''अकसर बनथे।"

"जरूर बनत होही !" —मुरारी दाऊ ने दूसरा तीर छोड़ा—"मैं तो सोचत रहो, रोज दूधपाक खा के आप मन (लोगों) के पेट खराब कईसे नहीं हो गिस।"

इधर-उधर की बातें होती रहीं। हमारे दाऊ कुढ़ रहे थे। छिपाने की पूरी कोशिश के बावजूद वह कुढ़न उन की बातों में उभर आती थी।

मुरारी दाऊ ने पूछा—"तुम्हार तीनों बेटे बाहर हैं का ?"

"हां। छोटा तो अभी कालिज में पढ़त है, मझला अऊ बड़ा दक्खिन हिन्दोस्तान की सैर को गे हवें।" —दाऊ ने झुकी कमर को उठाने की कोशिश की।

एक माह से दाऊ के बड़े और मझले बेटे घूमने के लिए दक्षिण भारत गए हुए थे। अब वे १०-१५ दिनों में वापस लौटने वाले थे। यह बात दाऊ ने बड़े उत्साह से कही, लेकिन मुरारी दाऊ ने तुरत उसे काट दिया—"मोर बड़ा बेटा कब का पूरा हिन्दोस्तान घूम आइस। अब सरकार ओला (उसे) जरमनी भेजने वाली हवै।"

दाऊ दुखमोचनसिंह की आखें फैलीं और सिकुड़ गईं। उन्होंने इस में कोई दिलचस्पी न दिखाई।

वात-वात में मुरारी दाऊ जहर-बुझे वाण छोड़ रहे थे। हमारे दाऊ उखड़ गए। मुझे उन पर दया आई। जी में आया, मुरारी दाऊ से कह दूं, चले जाओ यहां से, अभी-के-अभी चले जाओ।

मैं ने होंठ काटे। हाय! मैं क्या सोच रही थी। मुरारी दाऊ जान जाएं, तो?

१२

खाना खा कर दोनों दाऊ पहली मजिल पर चले गए।

"लो हिरना, पान दे आओ।" —बड़ी वहू ने मेरे हाथों मे पानदान थमाया।

मेरी घड़कन बढ गई। अच्छा भी लगा। आज पहली बार मैं लोहे की उस कांपती सीढी पर चढ कर पहली मजिल पर जाने वाली थी। मैं ने वहा की सजावट के वारे में कई विचित्र कल्पनाएं की थीं। कभी वहां नाच होते थे, रुपए उछाले जाते थे, शराब बहती थी"'जाने क्या-क्या होता था। वही कमरा आज मैं देखने वाली थी।

पानदान हाथ मे लिए-लिए मैं ने लोहे की सीढ़ी पर पाव रखा। एक, दो, तीन सीढिया चढी, तो सीढी थोड़ी कापी। मैं रुकी। आसपास नजर फेरी, कोई नही था। ऊपर देखा। जीने का छोर दिखाई पड़ा। खट खट खट मैं ऊपर चढने लगी। वीच तक पहुंची, तो सीढी जोर से सिहरी। मुझे डर लगा। पैर थोड़े कापे, हाथ भी कापे। जल्दी से मैं वाकी सीढ़ियां पार कर जीने मे आ गई।

कमरे के दरवाजे पर मैं ठिठक गई।

दरवाजे पर परदा लगा था। हटाऊ ? मैं उलझन मे पडी।

भीतर से रेडियो की आवाज आ रही थी।

मैं ने परदा हटाया। उसे पार किया तो सामने एक पलग दिखाई दिया। उस पर साफ झकझक चादर विछी थी। जरा आगे वढी तो देखा, उस पर एक नंगी औरत का चित्र बना हुआ है। मेरा चेहरा लाल हो गया। झट मैं दूसरी ओर देखने लगी। उधर गाधी बाबा का फरेम वाला फोटू लटक रहा था।

"का (क्या) लाए हस ? पान ?" —पीछे से मुरारी दाऊ को कहते

सुन कर मैं एकदम घूम गई। मेरे गले से बड़ी मुश्किल से निकला—"हहो..."

मैं सिर झुका कर उन के पास खड़ी हो गई।

"हियां रखो।"—उन्होंने चीजें हटा कर मेज मेरे सामने कर दी।

मैं ने पानदान रखा। जी हुआ, लौट जाऊं, लेकिन खड़ी रही। अभी कमरे को मैं ने देखा ही कहां था। जाने फिर कभी आ भी पाऊं या नहीं। बड़ी वहू ने भी कहा था, एकदम मत लौट आना, थोड़ी देर खड़ी रहना, अपनी ओर से भी पूछना, 'अऊ कछु चाहिए ?'

दो कुर्सियों में वे लड़के धंसे हुए थे। वे पान चवा रहे थे। उन पर मेरी आंखें टिकीं। अचानक वे भी मेरी ओर देखने लगे। मैं हड़वड़ा कर दूसरी ओर पलट गई।

बूढ़े दुखमोचनसिंह दाऊ शतरंज खोल कर काले-सफेद मुहरे खड़े कर रहे थे।

मैं ने हिम्मत की और नजर दौड़ाई। नाच कहां होता रहा होगा, शराब कहां रखी जाती होगी, दाऊ कहां वैठते होंगे, आदि सोचा लेकिन किसी भी वात का मेल न वैठा। इस कमरे के वारे में मैं ने जो रंगीन कल्पनाएं कर रखी थीं, वे सव गलत निकलीं। कमरा सजा हुआ था जरूर, लेकिन उतना नहीं, जितना गांव के लोग समझते थे।

मुरारी दाऊ कुर्सी से उठे और एक दीवार की ओर वढ़े। मेरी आंखों ने उन का पीछा किया। उन के हाथ में छोटी-सी नाजुक छड़ी थी। एक जगह दीवार पर उन्होंने ठक-ठक किया।

चूने की एक वहुत वड़ी पर्त नीचे झड़ गई। मुरारी दाऊ पीछे हटे। फिर घूम कर हमारे दाऊ की ओर देखा।

दाऊ दुखमोचनसिंह ने चूने को झड़ते देखा था, लेकिन अपने को शतरंज के मोहरों में उलझाए रख कर वह ऐसा दिखावा कर रहे थे, मानो उन्हें कुछ नहीं मालूम। मुरारी दाऊ खखारे, तो उन्हें उन की ओर देखना पड़ा। "कस सहनाओ, ए का दसा कर रखी है हवेली की ?"

दाऊ उठे । लाठी के सहारे ठक-ठक चलते हुए झड़े चूने के पास पहुंचे । चूने को आश्चर्य से ताकते रहे, फिर उधर आखें उठाईं, जहां से चूना झड़ा था । आंखों में सिकुड़नें आईं, भवें टूटीं । मुरारी दाऊ मुसकराए —"मेरी हवेली में कमी···"

हमारे दाऊ झूठा हंसने की कोशिश के साथ बोले—"अब मैं अकेला किस-किस का धियान करूं ? मुझे तो मालूम ही नहीं रहिस, ए कमरे की मरम्मत घलो (भी) करानी हवे ।"

"अब करा लीजिए, ओमे का (उस में क्या) बात हवे ।"—मुरारी दाऊ यों बोले, मानो पुचकार रहे हों ।

"ऐ टूरी !" —अचानक दाऊ की नजर मुझ पर पड़ी । मैं भौंचक खड़ी थी । उन की दहाड़ सुनते ही मेरे होश उड़ गए । यह भी न सूझा कि मुझे यहां से भाग जाना चाहिए ।

"टुकुर-टुकुर का ताकत हस ? चल, जा, भाग हिया से !" —दाऊ चीखे ।

मैं बाहर उड़ चली ।

हांफती-हांफती बड़ी बहू के पास पहुंची । "का हुआ ? का हुआ ?" —उस ने पूछा, लेकिन मैं कोई जवाब न दे पाई ।

बहुओं का समय नहीं कट रहा था । रसोईघर का सारा काम तो दूसरी डौकियां (औरतें) कर रही थीं और ये तीनों एकदम खाली बैठी थीं । मंझली चबर-चबर पान खाए जा रही थी । छोटी ने भी एक पान खाया था । मैं पास ही बैठी थी । चौगान के बीच में बने तुलसी-चौरे से मैं ने तुलसी के कुछ पत्ते तोड़े थे । तुलसी के फूल भी उन पत्तों में थे । धीरे-धीरे चबा कर मैं उन का स्वाद ले रही थी ।

"क्यों हिरना ऊपर का कमरा कईसा लगिस ?" छोटी ने मुझ से पूछा ।

अब मैं क्या बताऊं कि कैसा लगा । मुसकरा कर रह गई । बहुओं ने भी बहुत कम बार ऊपर का कमरा देखा होगा । ऊपर जाने का कोई

मौका उन्हें नहीं पड़ता था। उन्हें तो बस, नीचे के कमरे ही नसीब थे, जिन की दीवारें पीली थीं और जहां कम-से-कम रोशनी आती थी। उन से अच्छी तो गौशाला की गाय-भैंसें थीं, जो रोज ददा के साथ खुले मैदानों में चरने जाती थीं। रोज वे अपने नंगे बदन पर ताजी हवा के झोंके झेलती थीं, सूरज की किरणें उन के चप्पे-चप्पे को छूती थीं। लेकिन ये बहुएं ? मुझे उन पर दया आई। हर समय वे वजनदार लंहगा, पोलका और धोती पहने रहती थीं। उन की बांहों को कन्धे तक उघड़ी शायद ही कभी देखा हो मैं ने। कुल की इज्जत की रक्षा करने वाली बड़ी-बड़ी नथें उन की मुलायम नाक में हर समय लटकती रहतीं। वे जोर से हंस नहीं सकती थीं, क्योंकि दाऊ के सुन लेने का डर था। दाऊ की परछाईं देखते ही उन के चेहरों पर लम्बा घूंघट झूल जाता। उन के पैरों में कड़े होते थे। चलते समय उन की चांदी खनकती। दाई ने मुझे बताया था कि चोरी करने पर जेहल वाले पैर में लोहे की सांकल डाल देते हैं। जेहल में सांकल पहनाना वाजिब था, लेकिन ये वजनदार कड़े ? इन बहुओं ने क्या अपराध किया है ?

मैं ने छोटी की ओर देखा। छोटी यों थी तो तुनुकमिजाज और मुझे पसंद भी नहीं थी, लेकिन एक खास किस्म का लगाव, बल्कि सहानुभूति कह लीजिए, मैं उस के लिए महसूस करती थी। कारण शायद यह हो कि वह बहुत छोटी थी। पिछले ही साल वह यहां लाई गई थी और उस के कोमल शरीर को घूंघट, वजनी लंहगे, नथ और कड़े ने दबोच लिया था।

मेरी नजरें उस की नन्ही-सी नाक पर टिकीं। नथ के वजन से नाक का छेद लम्बा हो गया था।

बहुओं ने अपने को सजा-धजा लिया था। जो कपड़े वे रोज पहनती थीं, उन्हें उतार कर उन्होंने नए और साफ कपड़े पहन लिए थे। बिखरे रहने वाले उन के बाल आज अच्छी तरह जूड़े में बंधे थे। बड़ी बहू ने छोटी को अच्छी तरह संवारा था। छोटी को संवरना भी नहीं आता।

था। कई बार वह सवरने मे फूहड़ गलतियां कर जाती। मैं ने अकसर उस के पैरो पर मैल की परतें देखी थी, ठीक वैसी ही भूरी परतें, जैसी मेरे पैरों पर रोज जम जाती थी। मैं अकसर सोचा करती कि छोटी के पांव गदे क्यो हो जाते हैं, वह तो सारा दिन हवेली मे रहती है। आज उन पांवों को बड़ी ने खुद सामने बैठ कर साफ करवाया था। दरअसल वह छोटी को बिटिया की तरह रखती थी। भूल करने पर वह उसे प्यार से समझाती कि ऐसा करना हवेली के अदब मे नही आता।

मझली का एक बेटा था—छह महीनो का। कामचोर तो वह थी ही, अब उसे बहाना भी मिल गया था। दिन-भर वह बेटे की तीमारदारी मे लगी रहती, रसोईघर मे कम-से-कम आती। पति की वह लाडली भी बहुत थी। कोई उस से कुछ नहीं कह सकता था।

बेचारी बडी बहू के एक भी सन्तान नही थी। उस ने भी बाबा सिद्धनाथ की मानता कर रखी थी कि सन्तान होने पर वह हर साल गाव की रामलीला का पूरा खर्च देगी, लेकिन नए पुजारी के आने के बाद बाबा सिद्धनाथ का सत चला गया था। सिद्धनाथ बाबा किसी और मन्दिर को जा चुके थे।

जहां हम चारों बैठी धीमे-धीमे गपशप कर रही थीं, वहा से पहली मंजिल का वह कमरा साफ दिखाई पड़ता था, जहां इस समय दोनों दाऊ हर बात में एक-दूसरे पर ताने कसते हुए शतरंज खेल रहे थे। रेडियो की आवाज बहुत धीमी-धीमी यहा आ रही थी। इधर को खुलने वाली खिड़कियां बन्द थी, जिस से वह आवाज कमरे में ही कैद थी।

छोटी ने एक गहरी उसांस लेकर कहा—"मोना (मुझे) रेडियो का कतेक शौक हवै ! लेकिन…"

इस लेकिन के आगे वह लाचार थी। उस के पति को पढ़ाई के लिए हर माह डेढ़ सौ रुपये भेजे जाते थे। इसी लिए छोटी का घर में कोई मान नही था। मंझली से कई गुना ज्यादा काम करती थी वह लेकिन मंझली की तरह वह दाऊ का लाड़ नहीं पाती थी।

मौका उन्हें नहीं पड़ता था। उन्हें तो बस, नीचे के कमरे ही नसीब थे, जिन की दीवारें पीली थीं और जहां कम-से-कम रोशनी आती थी। उन से अच्छी तो गौशाला की गाय-भैंसें थीं, जो रोज ददा के साथ खुले मैदानों में चरने जाती थीं। रोज वे अपने नंगे बदन पर ताजी हवा के झोंके झेलती थीं, सूरज की किरणें उन के चप्पे-चप्पे को छूती थीं। लेकिन ये बहुएं? मुझे उन पर दया आई। हर समय वे वजनदार लंहगा, पोलका और धोती पहने रहती थीं। उन की बांहों को कन्धे तक उघड़ी शायद ही कभी देखा हो मैं ने। कुल की इज्जत की रक्षा करने वाली बड़ी-बड़ी नथें उन की मुलायम नाक में हर समय लटकती रहतीं। वे जोर से हंस नहीं सकती थीं, क्योंकि दाऊ के सुन लेने का डर था। दाऊ की परछाईं देखते ही उन के चेहरों पर लम्बा घूंघट झूल जाता। उन के पैरों में कड़े होते थे। चलते समय उन की चांदी खनकती। दाई ने मुझे बताया था कि चोरी करने पर जेहल वाले पैर में लोहे की सांकल डाल देते हैं। जेहल में सांकल पहनाना वाजिब था, लेकिन ये वजनदार कड़े? इन बहुओं ने क्या अपराध किया है?

मैं ने छोटी की ओर देखा। छोटी यों थी तो तुनुकमिजाज और मुझे पसंद भी नहीं थी, लेकिन एक खास किस्म का लगाव, बल्कि सहानुभूति कह लीजिए, मैं उस के लिए महसूस करती थी। कारण शायद यह हो कि वह बहुत छोटी थी। पिछले ही साल वह यहां लाई गई थी और उस के कोमल शरीर को घूंघट, वजनी लंहगे, नथ और कड़े ने दबोच लिया था।

मेरी नजरें उस की नन्ही-सी नाक पर टिकीं। नथ के वजन से नाक का छेद लम्बा हो गया था।

बहुओं ने अपने को सजा-धजा लिया था। जो कपड़े वे रोज पहनती थीं, उन्हें उतार कर उन्होंने नए और साफ कपड़े पहन लिए थे। बिखरे रहने वाले उन के बाल आज अच्छी तरह जूड़े में बंधे थे। बड़ी बहू ने छोटी को अच्छी तरह संवारा था। छोटी को संवरना भी नहीं आता।

था। कई बार वह सवरने मे फूहड़ गलतियां कर जाती। मैं ने अकसर उस के पैरों पर मैल की परतें देखी थी, ठीक वैसी ही भूरी परतें, जैसी मेरे पैरों पर रोज जम जाती थीं। मैं अकसर सोचा करती कि छोटी के पांव गदे क्यों हो जाते हैं, वह तो सारा दिन हवेली मे रहती है। आज उन पावों को बड़ी ने खुद सामने बैठ कर साफ करवाया था। दरअसल वह छोटी को बिटिया की तरह रखती थी। भूल करने पर वह उसे प्यार से समझाती कि ऐसा करना हवेली के अदब मे नही आता।

मंझली का एक बेटा था—छह महीनों का। कामचोर तो वह थी ही, अब उसे बहाना भी मिल गया था। दिन-भर वह बेटे की तीमारदारी में लगी रहती, रसोईघर मे कम-से-कम आती। पति की वह लाड़ली भी बहुत थी। कोई उस से कुछ नही कह सकता था।

बेचारी बड़ी बहू के एक भी सन्तान नही थी। उस ने भी बाबा सिद्धनाथ की मानता कर रखी थी कि सन्तान होने पर वह हर साल गांव की रामलीला का पूरा खर्च देगी, लेकिन नए पुजारी के आने के बाद बाबा सिद्धनाथ का सत चला गया था। सिद्धनाथ बाबा किसी और मन्दिर को जा चुके थे।

जहां हम चारों बैठी धीमे-धीमे गपशप कर रही थी, वहा से पहली मंजिल का वह कमरा साफ दिखाई पड़ता था, जहां इस समय दोनों दाऊ हर बात में एक-दूसरे पर ताने कसते हुए शतरंज खेल रहे थे। रेडियो की आवाज बहुत धीमी-धीमी यहा आ रही थी। इधर को खुलने वाली खिड़कियां बन्द थी, जिस से वह आवाज कमरे में ही कैद थी।

छोटी ने एक गहरी उसास लेकर कहा—"मोला (मुझे) रेडियो का कतेक शौक हवै ! लेकिन•••"

इस लेकिन के आगे वह लाचार थी। उस के पति को पढ़ाई के लिए हर माह डेढ सौ रुपये भेजे जाते थे। इसी लिए छोटी का घर में कोई मान नही था। मंझली से कई गुना ज्यादा काम करती थी वह, लेकिन मझली की तरह वह दाऊ का लाड़ नही पाती थी।

अचानक ऊपर से आ रही रेडियो की दवी-दवी धुन साफ हो गई। मैं ने ऊपर देखा। खिड़की खुल गई थी। वहां मुरारी दाऊ खड़े थे।

वड़ी वहू ने तुरन्त घूंघट खींच लिया और उठ कर एक खम्भे की आड़ ले ली। मंझली कूद कर कमरे में चली गई। छोटी एकाएक कुछ न समझ पाई। उस ने कारण खोजने के लिए ऊपर देखा। मुरारी दाऊ को देखते ही वह हड़वड़ा कर घूंघट खींचने लगी। साथ ही उठ कर भागने की कोशिश भी की; जहां वह वैठी थी, वहां दीवार में कोई कील थी। ओढ़नी का छोर उस कील में अटक गया। घूंघट के खिंचाव व उठने के झटके से चर्र की आवाज हुई और ओढ़नी फट कर कील से लटकने लगी। छोटी आड़ में हो तो गई, लेकिन फटे छोर को मुरारी दाऊ देखते रहे।

मैं ने देखा, हाथ के इशारे से उन्होंने मुझे वुलाया। मशीन की तरह उठ कर मैं विना किसी डर या सनसनी के लोहे की सीढ़ियां पार कर गई। ऊपर पहुंच कर भीतर घुसी, तो मुरारी दाऊ कह रहे थे—"सहनाओ, तुम्हार वहुएं घूंघट निकालथें ? मेरे घर में अईसा नहीं होथै। मैं तो वहुओं को वेटी समझथौं। वेटी को वाप से का वर (क्यों) छिपना चाहिए ?"

दाऊ दुखमोचसिंह का चेहरा तमतमा आया था। वह वहुत-कुछ कहना चाहते थे, उन के होंठ हिल रहे थे, लेकिन आवाज नहीं निकल रही थी। उन की मुट्ठी लाठी पर भिच गई थी। कमर पर कई रेखाएं वन गई थीं। आंखें लाल।

मैं उन की ऐसी हालत देख कर घवरा गई। पता नहीं, मुरारी दाऊ ने उन्हें अव तक क्या-क्या कह कर क्रोधित किया था। जव से वह आए थे, केवल यही कर रहे थे। शायद आए भी वह इसी लिए थे।

अचानक कांपते हुए हमारे दाऊ उठे और जोर से चीखे—"मुरारी!" हाथ के जोरदार झटके से उन्होंने शतरंज के मुहरों को हवा में फेंक दिया। दूसरा वार पास के रेडियो पर हुआ। वह भड़भड़ा कर फर्श पर

आ गिरा। उस का मीठा गाना घरघराहट में बदल गया।

और मैं भागी, पूरी ताकत से भागी। दाऊ का ऐसा गुस्सा मैं ने पहली वार देखा था। लोहे की सीढ़ियों पर मैं उलटते-उलटते बची।

गलियारा पार कर के चौगान में पहुंची। बावरी हुई जा रही थी। चारों ओर देखा। सचमुच मैं कांप रही थी और गाल फटे जा रहे थे।

दाऊ की दहाड़ जरूर खुली खिड़की में से नीचे तक आई होगी। चौगान बिल्कुल सूना था।

तीनों बहुए पता नहीं किस कमरे में घुस गई थीं।

मेरे सामने चार कमरे थे, सब के दरवाजे खुले थे। मैं छिपने के लिए किसी भी एक कमरे में घुस गई और भड़ाक से दरवाजा बन्द कर लिया। गहरी सांस ले कर मैं फर्श पर गिरती हुई-सी बैठ गई।

थोड़ी देर बाद दरवाजे पर थाप हुई—खट-खट।

कौन है ?

मुरारी दाऊ की प्यार-भरी, सान्त्वना देती आवाज भीतर आई—"अरे दुरी ! तें क्यों भाग गे ? खोल, अरी खोल तो सही, दरवाजा खोल।"

तो मुरारी दाऊ थे। मैं ने धीमे से दरवाजा खोला। उन्होंने पीठ थपथपा कर मेरा डर दूर किया—"तें भाग क्यों गे ?"

मैं चुप रही।

"जा, हम लोगों के लिए चा बनवा के ऊपर ला।" कह कर वह ऊपर जाने के लिए मुड़े।

चाय बनाते समय बड़ी बहू के हाथ बिना कांपे काम करते रहे, लेकिन मंझली और छोटी बहुओं के होश गायब थे।

चाय ऊपर पहुंचा कर मैं कब, कैसे वापस लौटी और उस समय कौन कहां बैठा क्या कर रहा था, मुझे कुछ नहीं मालूम। मानो मैं वहां गई ही न होऊं।

नीचे आ कर मैं एक खम्भे की आड़ में खड़ी हो गई। सहमी-सहमी।

ऊपर दोनों दाउओं में पता नहीं क्या बातें हो रही थीं, लेकिन इतना तय था कि वे बातें बहुत आवेशपूर्ण थीं, क्योंकि मैं ने ऊपर से दाऊ की गर्जना सुनी—"मुरारी ! बस, अतेक (इतना) अपमान बहुत हवै ।"

एक घड़ी का मौन और दूसरी दहाड़—"क्या कहा ? लौटने दो मेरे बेटों को, मैं तोर (तुम्हारा) खून करवा देहूं । का समझा ?"

इस के साथ ही खुली खिड़की में से चाय का कप हवा में उछल कर तुलसी चौरे की अटारी पर गिरा और फट् से टूट गया । कप की चाय का उछाल चौगान में बरसा ।

मैं ने डरते हुए खिड़की की ओर ताका ।

वहां मुरारी दाऊ खड़े थे । उन के हाथ में चाय का कप था । वह चुस्कियां ले रहे थे । उन के चेहरे पर अजीब-सा सन्तोष था ।

उसी शाम मुरारी दाऊ वापस चले गए ।

उस पूरी रात एक ही बात मेरे दिमाग में घूमती रही। मैं अनपढ़ हूँ'''इसी से मैं बेवकूफ हूँ और इसी से उस दिन काने चौधरी के सामने मुझे शर्मिंदगी उठानी पड़ी। अनपढ़ न होती तो फोटू खिचाना या पौडर मलना मुझे जरूर आ गया होता। तब मुझे लड़के वाले नापसन्द नहीं कर सकते थे। माना, मैं सांवरी हूँ, लेकिन नाकनक्श कितने तीखे हैं मेरे !

आधी रात के बाद मेरी नींद लगी।

बिहनिया (सुबह) मेरे पैर के अंगूठे में जोर की चुभन हुई। मेरी नींद खुल गई। हड़बड़ा कर मैं उठी। खाट चरमराने लगी। मैं ने देखा, एक मुसवा (चूहा) कूद कर भागा। मैं ने अंगूठे को टटोला। खून निकल रहा था।

मैं ने तुरन्त दाई को जगाया—"दाई, दाई, अंगूठे में मुसवा काट गिस। लहू आत है।"

दाई मुसवे को गाली देती हुई उठी। सुबह की रोशनी फैलनी शुरू हो गई थी। दाई ने कड़ील का पेट खोल कर मिट्टी के तेल में एक चिंदी भिगोई और मेरे अंगूठे पर बांधी।

दातून का टुकड़ा मुंह में डाल कर मैं आंगन में जा बैठी। थोड़ी देर में दाई भी पास बैठ कर दातून करने लगी। ददा अभी सोए हुए थे। पास-पड़ोस के कुछ लोग जाग गए थे और हल्ला कर रहे थे। गौरइयों की चीं-चीं वातावरण में भर उठी। कौओं की नींद टूटी और वे कां-कां करते हुए उड़ानें भरने लगे। जब मैं दातून कर चुकी तो उन कौओं की आंखों में मक्कारी आ गई और उन्होंने मासूम, निरीह गौरइयों के घोंसलों पर हमला बोल दिया। उन के अंडे और चूजे हड़प कर वे खुश होने लगे।

कुछ कौए चोंच में चूजे दवा कर झोपड़ों के छप्पर पर बैठ गए और नोच-खसोट करने लगे। गौरइयों और लाल-भूरी मैनाओं के झुंड उन पर मंड-राते हुए गालियों की बौछार करते रहे। कौओं को उस बौछार की पर-वाह नहीं थी।

दाई की जो उंगलियां पानी ने खा ली थीं, उन में अव आराम होने लगा था। दो दिनों में दाई लगभग ठीक हो गई। मुसवे का काटा मेरा अंगूठा भी ठीक हो गया।

इन दो दिनों में मेरे मन में एक जिद पक्की हो चुकी थी। स्कूल जाने की जिद।

सुवह वासी का कौर भरते हुए मैं ने कहा—"दाई, मैं स्कूल जाना चाहथौं। मेरी संगवारिनें पढ़-लिख गई हवें और मैं अढ़ही (वेवकूफ) की अढ़ही हौं।"

मैं ने देखा, दाई की आंखें आश्चर्य से फैल कर गोल हो गई।

लेकिन मैं कहती रही—"वड़ी वहू घलो (भी) ओ दिन यही कहे रहिस। उस में तो हम से जियादा अकल हवै।"

दाई चुप रही। चुपचाप उठ कर झोपड़े से वाहर चली गई। उस की चुप्पी का मतलव समझते मुझे देर न लगी, लेकिन मेरी भी जिद पक्की थी।

मेरे मन के घोड़े वेलगाम हो गए। मैं पढ़-लिख जाऊंगी। मुझे अच्छा-सा डौका(दूल्हा) मिलेगा···पढ़ने में दू साल लगेंगे। तव मैं १६ साल की हो जाऊंगी।

रात को गाएं दुह कर ददा लौटे तो दाई ने फुसफुसा कर उन के कान में कुछ कहा। ददा ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा। वह मेरे पास आए और वंडी उतारते हुए वोले—"हिरना, तैं पढ़ने नहीं जावै।"

मैं मटके से पानी पी रही थी। मैं ने मटके को मोरी में जोर का झटका दे दिया। वह गिरा और वद् से फूट गया। पानी मोरी से वाहर वहने लगा। अव मुझे होश आया कि मैं ने क्या कर डाला था। डर कर

मैं ने दद्दा की ओर देखा। वह पुतले की तरह मेरी ओर देख रहे थे। उन की आखें फैल गई थी। उन की पलकें झप रही थी, मानो वे कट कर कहीं गिर गई हो। मैं बहुत ज्यादा डर गई। दद्दा की ओर देखती हुई मैं धीरे-धीरे दरवाजे की ओर सरकी। ज्यों ही दरवाजा पास आया, मैं चिड़िया की तरह बाहर उड़ चली।

मैं अकेली भटकती रही। करतरा बड़ा गाव तो था नही। उस की हर गली मैं ने कई बार रौंदी। मेरे पाव नंगे थे। कीचड़ के धक्के जूतियो की तरह मेरे पजों पर चिपक गए। हर कदम मुझे बडी कोशिश कर के उठाना पडता।

घूरो के पास सुअर सो रहे थे। उन के लम्बे थूथनो को मैं ने पसन्द नही किया। झोपडो में ढोबरिया जल रही थी। कहीं-कहीं मोमबत्तिया भी जलाई गई थी। मैं ने दूर से कल्याण भवन को देखा। चौक मे गियास जल रहा था। ऊपर की मंजिल की ओर देखा तो वहा अंधेरा था। उस दिन की मुरारी दाऊ और हमारे दाऊ की झडप मेरी आंखो के सामने घूम गई। लेकिन इस समय तो मैं बस एक ही बात सोच रही थी—स्कूल ! स्कूल !

घूमती हुई मैं स्कूल की इमारत के पास गई। वह सोई हुई थी। आसपास फूलो की बगिया थी। जी हुआ, बगिया मे जाऊ, पर डर लगा, कहीं साप-बिच्छू न हो। कहीं मैं मर गई, तो ? मैं वापस लौट पडी। दूर से तालाब का पानी दिखाई पडा। आकाश की तरह वह भी काला था। मैं ने आकाश की ओर देखा। बादल, बादल ! लेकिन वे बहुत ऊंचे थे। मैं पहचान गई, ये बरसने वाले बादल नही थे। मैं एक गली मे घुसी। वहा एक झोपड़ी से लगी बाड़ मे मुर्गे-मुर्गिया चुपचाप दुबके हुए थे। बाड को ऊपर से छा दिया गया था। छाजन पर कुम्हड़े और तोरई की बेलें चढ़ी हुई थीं।

तिन्न तिन्न ! खन खन !

तम्बूरा बज रहा था। तम्बूरे के साथ-साथ मजीरे ताल दे रहे थे।

कुछ कौए चोंच में चूजे दबा कर झोपड़ों के छप्पर पर बैठ गए और नोच-खसोट करने लगे। गौरइयों और लाल-भूरी मैनाओं के झुंड उन पर मंड-राते हुए गालियों की बौछार करते रहे। कौओं को उस बौछार की पर-वाह नहीं थी।

दाई की जो उंगलियां पानी ने खा ली थीं, उन में अब आराम होने लगा था। दो दिनों में दाई लगभग ठीक हो गई। मुसवे का काटा मेरा अंगूठा भी ठीक हो गया।

इन दो दिनों में मेरे मन में एक जिद पक्की हो चुकी थी। स्कूल जाने की जिद।

सुबह बासी का कौर भरते हुए मैं ने कहा—"दाई, मैं स्कूल जाना चाहथौं। मेरी संगवारिनें पढ़-लिख गई हवें और मैं अढ़ही (बेवकूफ) की अढ़ही हौं।"

मैं ने देखा, दाई की आंखें आश्चर्य से फैल कर गोल हो गई।

लेकिन मैं कहती रही—"बड़ी बहू घलो (भी) ओ दिन यही कहे रहिस। उस में तो हम से जियादा अकल हवै।"

दाई चुप रही। चुपचाप उठ कर झोपड़े से बाहर चली गई। उस की चुप्पी का मतलब समझते मुझे देर न लगी, लेकिन मेरी भी जिद पक्की थी।

मेरे मन के घोड़ बेलगाम हो गए। मैं पढ़-लिख जाऊंगी। मुझे अच्छा-सा डौका(दूल्हा) मिलेगा''पढ़ने में दू साल लगेंगे। तब मैं १६ साल की हो जाऊंगी।

रात को गाएं दुह कर ददा लौटे तो दाई ने फुसफुसा कर उन के कान में कुछ कहा। ददा ने आश्चर्य से मेरी ओर देखा। वह मेरे पास आए और बंडी उतारते हुए बोले—"हिरना, तैं पढ़ने नहीं जावै।"

मैं मटके से पानी पी रही थी। मैं ने मटके को मोरी में जोर का झटका दे दिया। वह गिरा और बद् से फूट गया। पानी मोरी से बाहर बहने लगा। अब मुझे होश आया कि मैं ने क्या कर डाला था। डर कर

कितनी सारी मक्खिया ! उन्हें पकड़ने में मुझे बड़ा मजा आता। दाई की नजर चुरा कर मैं गुड़ का टुकड़ा आगन में खुला छोड़ देती। थोड़ी ही देर में टुकड़ा अपने-आप पसीज कर ढीला पड़ जाता। मक्खियों के झुड झुमझुम करते आते और उस पर बैठते। पूरा टुकड़ा मक्खियों के नीचे गायब हो जाता। मैं पास बैठी रहती और अचानक हवा में हाथ घुमाती। मक्खिया भर्र से उड़ती और उन में से कई मेरी मुट्ठी में दब जाती। मुट्ठी खोलने पर वे घायल हो कर जमीन पर गिर जातीं। मेरी हथेली में खून के कई छोटे-छोटे चत्ते पड़ जाते जिन्हें मैं धोती से पोंछ लेती। दाई मुझे ऐसा करते देख लेती तो चुटिया पकड़ कर मारती, लेकिन मैं इस तरह मक्खियों से बदला लेती थी। मुझे वे जरा भी पसन्द नहीं थीं। खाना खाते समय वे मेरे खुले मुह मे आ जाती थीं और कभी तीर की तरह आंख मे भी घुस जाती।

दो दिनों तक स्कूल जाने का भूत मेरे सिर से उतरा रहा और तीसरे दिन अचानक फिर चढ आया।

ददा हवेली के ढोर चराने गए थे। मैं घर में अकेली थी। दाई पड़ोसन के यहा बैठी गप्पें हाक रही थी। अकेलेपन ने मेरे मन में स्कूल जाने की जिद को और पक्का कर दिया।

फिर मुझे याद आया कि दाई को तो मनाना बड़ा आसान है, असली बात ददा की है। इसी से दाई जब वापस लौटी, तो मैं ने उस से कुछ भी न कहा। मैं ददा का इन्तजार करने लगी। दोपहर को मैं हवेली जा कर मठे की छोटी मटकी भर लाई। मटकी को सीके से लटका कर मैं ने मन-ही-मन दुहराया—"मैं पढूंगी!"

रात को ददा लौटे। वह खा-पी चुके, तो मैं ने एकदम कहा—"ददा मैं तोर पांव पड़थों, मोला (मुझे) स्कूल भेज दे।"

"टुरी!" —वह चीखे—"तैं मठिया गे हस।"

"नहीं ददा…"

अगले ही पल मैं हवा में लटक रही थी। उन्होंने मु

कर ऊपर उठा लिया था। जिन्दगी में यह पहला मौका था, हां, सचमुच पहला, जब ददा मुझ पर इतने गुस्सा थे। मेरे सिर की चमड़ी खिंच रही थी, जल रही थी। मैं बिलख उठी। उन्होंने मुझे नीचे उछाल दिया। मैं किसी कमजोर बछड़े की तरह भरभरा कर जमीन पर बिछ गई। मैं ने सोचा, मेरी कोई हड्डी टूट गई है, लेकिन ऐसा नहीं हुआ था। मैं सही-सलामत थी। गिरते ही किसी ने मुझे उठा कर खड़ा कर दिया, गाल पर कस कर झापड़ मारा और नीचे गिरा दिया।

"अऊ जावै स्कूल ?" मैं ने ददा की तीखी आवाज सुनी।

मैं ने बलवा कर दिया—"हां, हां, जाहूं ! जरूर जाहूं !"

सड़ाक !

मैं तिलमिला गई, बल खा कर उलट गई, दुहरी हो गई। डर से मेरी आंखें फटने लगीं। मैं ने देखा, ददा के हाथ में दातून की लपलपाती छड़ है।

सड़ ! सड़ !

दातून की छड़ मुझ पर बरसी। चमड़ी कैसे उधड़ती है, मुझे आज पता चला। मैं रो रही थी, चीख रही थी, मेरे गले की नसें फट रही थीं। झोपड़ी में उन आवाजों के सिवा मानो और कोई आवाज नहीं थी।

"अरे अरे, टुरी ला मार डारिस !" —थोड़ी देर बाद कुछ डौकियां मुझे जमीन से उठा कर खाट पर लिटा रही थीं।

"मार डारिस रे, मार डारिस !" —वे दुख से सिर हिला-हिला कर बुदबुदा रही थीं।

मैं ने ध्यान से देखा, मुझे उठाने वाली उन डौकियों में मेरी दाई नहीं थी। आंसुओं से मेरी आंखें अंधी हो रही थीं। हिचकियों से मेरा पूरा शरीर हचमचा रहा था।

एक कोने में ददा सिर पर हाथ दे कर गुमसुम बैठे थे। दाई पास ही खड़ी चुपके-चुपके रो रही थी। डौकियां चली गईं, तो वह मेरे पास

आई। मैं उस से लिपट पड़ी। मैं इतना रो चुकी थी कि अब और नहीं रो सकती थी। मैं केवल उस से चिपटी रही और वह हिलक-हिलक कर रोती गई।

१४

हवेली का वह बीमार बछड़ा अब ठीक हो गया था। वैसे था तो वह मरियल ही, लेकिन अब वह छोटी कुलाँचें भरने लगा था। उस की बड़ी-बड़ी आंखों से भोलापन टपकता था। रंभाते समय उस का मुंह खुलता तो भीतर मैं उस की लाल जीभ को ताकती। जब उस ने प्यार से मेरे हाथ चाटे तो उस की जीभ पर उभरे छोटे-छोटे दानों को मैं ने महसूस किया। एक बार मुझे उस पर गुस्सा भी बहुत आया। उस ने मेरी धोती का छोर चबा कर फाड़ डाला। मेरा जी बहुत दुखा लेकिन दाऊ को पता चला तो उन्होंने मुझे नई धोती दिलवाई। मैं खुश हो गई।

उस दिन ददा ने जो मार मुझे मारी थी, उस के कारण तीन दिन तक मेरा शरीर सूजा रहा था। दातून की छड़ के लम्बे-लम्बे नीले निशान मेरी पीठ पर जाल की तरह गुथ गए थे। दाई ने मेरी चोटों पर खूब मालिश की थी। एक पोटली में नमक भर कर, उसे आंच से गर्म कर के उस ने मुझे खूब सेंका था।

"नोनी, स्कूल जाना लड़की जात के लिए पाप होथै।"—उस ने कई बार मुझे समझाया था और मैं ने हां में सिर हिला दिया था।

एक बात मेरी समझ में आ गई थी कि मैं जिद करने पर ददा का प्यार खो दूंगी। यह मुझे किसी भी कीमत पर मंजूर नहीं था। मैं, उन की लाड़ली हिरना, जिसे वह लाड़ से हिरना सांवरी कहते थे, यह कैसे सह सकती थी कि वह रूखेपन से मुझे मेरे असली नाम से पुकारें—लछमी। मैं ने मन मना लिया, गांव में पढ़ी-लिखी टुरियां आखिर हैं ही कितनी ! क्या उन में से किसी की शादी नहीं होगी ?

मेरे लिए नए-नए उम्मीदवार आने लगे लेकिन ददा को उन में से कोई भी पसन्द न आया। उन उम्मीदवारों में से मैं ने किसी को भी

नह देखा था, न ददा या दाई ने उन्हें देखा था। बस, उन की ओर से रिश्ता ले कर कोई आता और उसी से ददा की बात होती।

ददा की एक शर्त मेरी शादी मे सब से बड़ी बाधा थी। वही, घर-जमाई वाली शर्त। अच्छे लडके घरजमाई बनने के लिए तैयार नही थे, बुरे लडके को भला मैं कैसे दी जा सकती थी।

मुझे इस उलझाव का कोई ओरछोर नजर नही आता था। साथ ही शादी की बात मेरे लिए अब नई भी नही थी। पहली बार काने चौधरी ने जब बात चलाई थी, तो एक अजीब-सा उत्साह, विचित्र सन-सनी और उलझन मेरे भीतर पैदा हुई थी। शादी की बात टूटने के बाद भी कई दिनों तक मेरे छोटे-से दिल ने उस के सपने देखे थे। अब वैसा नही था। बात का नयापन खत्म हो गया था। जो भी मुझे देखने आता, मैं उस के सामने कुछ इस तरह खडी हो जाती कि लो, देख लो। वह सिकुड़न, वह लाज, वह कोमलता अब जा चुकी थी।

मेरी नीली चोटें जब ठीक हो गई, तो मैं ने देखा, ददा मुझे पहले से भी ज्यादा चाहने लगे हैं। मानो इस तरह वह अपनी कठोरता के लिए पछतावा कर रहे थे।

और एक दिन जब उन्होंने मुझ से पूछा कि क्या मैं उस के साथ चरागाह चलना पसन्द करूंगी, मैं ने खुशी-खुशी हां कर दी।

हम लोग हवेली पहुचे। ददा ने गाय-भैंसों को खोल कर उन की दुमे थोडी ऐंठी।

मैं उस नए बछडे के पास पहुच गई। उस ने अपनी बड़ी-बड़ी कजरी आखें मेरी ओर उठाईं। मुझे हसी आ गई। "चल भइया, चल घास चरें चर।"—कहते हुए मैंने उसे खूंटे से खोला। पिछले दो दिनों से वह भी अपनी मा के साथ घास चरने जाने लगा था।

उस की मा एक बार रम्भाई और आगे-आगे चली। पीछे-पीछे बछड़ा और फिर मैं। ददा अपनी लाठी के साथ सब से पीछे थे। लाठी के एक छोर पर रोटियों और अचार की पोटरी बधी थी। यह

कुछ दिन पहले कल्याण भवन से आया था। पोटरी के कपड़े पर अचार का पीला दाग पड़ गया था।

चरागाह का मैदान बहुत बड़ा था। दूर-दूर तक हरी घास उगी हुई थी, जिस का कोई मालिक नहीं था। हम ने जानवरों को खुला छोड़ दिया।

मैं ने वंसी की एक तान सुनी, जो हवा की चुप्पी में अपनी बाहें लहरा रही थी। दूर और कोई चरवाहा अपने ढोर चरा रहा था। वंसी की यह तान उसी ने छेड़ी थी। जानवर खो न जाएं, इस के लिए उन के गलों में जो काठ की घंटियां पड़ी हुई थीं, उन की टुन-टुन यहां तक तिर कर आ रही थी। मैं सोचने लगी, हमारे जानवरों की घंटियां भी उस चरवाहे को इसी तरह प्यारी लग रही होंगी।

वीच-बीच में नीम, पीपल, इमली आदि के घटादार वृक्ष थे। आम के भी दो पेड़ थे, लेकिन वरसात के दिनों में उन में मेरे लिए क्या खिचाव हो सकता था। हां, बुलाया मुझे, तो इमली के पेड़ों ने, जिन्हें देखते ही मेरे मुंह में खट्टा पानी छूटने लगा।

ददा थक गए थे। एक पेड़ के नीचे पगड़ी फैला कर उस पर लेटते हुए मुझ से बोले—"देख हिरना, मैं जरा झपकी लेत हौं। तैं जानवरों पर नजर रखवें। कोई इधर-उधर न हो जाए।"

"हुं!" कह कर मैं ने जानवरों की ओर देखा, जो हरी धरती पर मुंह मार रहे थे।

थोड़ी देर में ददा की आंख लग गई। मैं ने एक-दो बार उन्हें धीरे से पुकारा—"ददा! ओ ददा!" लेकिन जब वह हिले भी नहीं तो मन-ही-मन उन की मूंछों का मजाक उड़ा कर मैं इमली के पेड़ों की ओर भागी, जो न जाने कब से इशारे कर रहे थे।

इमली खाने के बाद मैं नीचे उतरी। अब मुझे प्यास लगी थी। पेड़ के ऊपर से मैं ने एक छोटा डबरा देखा था। मैं उधर बढ़ चली।

दूर से आ रही वंसी की धुन अब भी जारी थी।

दोपहर हो गई थी। आकाश में बादल घूम रहे थे। उन की चलती-फिरती परछाइयां धरती और धूप के साथ आंखमिचौनी खेल रही थीं। एक बार एक परछाईं ने आ कर मुझे ढक लिया और ज्यों-ज्यों मैं आगे चलती गई, वह भी मेरे साथ सरकती गई। मुझे बड़ा मजा आया और मैं अकेली-अकेली मुसकराने लगी।

मुलायम और भीगी-भीगी हरी घास मेरे पैरों के नीचे आ रही थी। ज्यों ही मैं पैर उठाती, उस के दबे हुए सिरे ऊपर उठ आते।

हवा में जंगली फूल डोल रहे थे। उन पर तितलियां इतरा रही थीं।

मैं ने कुलाचें भरीं। मुझे यहां कोई नहीं देख रहा था। पूरी आजादी थी मुझे, मैं जो चाहती कर सकती थी। मैं ने बांहें फैला दीं। ठंडी हवा के झोंकों ने बांहों के नीचे घुस कर मेरे वक्ष को छुआ। मेरी साड़ी गुब्बारे की तरह फूल कर फड़फड़ा उठी। मैं दौड़ने लगी, मानो हवा मुझे अपनी हथेलियों पर उठाए हुए हो।

डबरे के पास पहुंची, तो देखा, पानी में लम्बी टांगों के बल कुछ सफेद बगुले चुपचाप खड़े हैं। उन्हें देखते ही मुझे मछलियां मारने का मन हो गया। मैं ने पानी में पैनी नजर डाली। काफी मछलियां थीं।

मैं ने पानी पीया। मछलियां मुझे देख कर दूर भाग गईं। फिर उन का डर दूर हो गया और वे बेधड़क पास आ गईं। इसी तरह वे उन बगुलों के पास भी चली जाती थीं और शिकार हो जाती थीं। अब मैं उन का शिकार करने वाली थी।

धोती घुटनों तक उठा कर मैं ने लांग लगाई। फिर पानी में उतरी। पानी में बुलबुले उठे। लहरें दूर तक फैल गईं। एक बगुला चौंक कर मेरी ओर देखने लगा। मैं ने उस की ओर देखा। दोनों ने दोनों की नीयत पहचानी।

मैं ने चारों ओर देखा। कोई नहीं था। मैं ने धोती का पल्लू कन्धे से हटा कर पानी में डुबा दिया। पानी के भीतर उसे नाव के पाल की

तरह तान कर मैं कमर झुकाए धीरे-धीरे किनारे की ओर बढ़ी। पल्लू के घिराव में कई मछलियां आ गईं। किनारे तक पहुंचते-पहुंचते वे काफी हो गईं। वे खदबदाने लगीं। मैं ने झट पल्लू को झोली की तरह पानी के बाहर उठा लिया। कई चमकदार मछलियां गीले पल्लू पर उलटने-पलटने लगीं। उन के चिकने शरीर, जिन की दोनों चपटी करवटें पारे की तरह चमकदार थीं, धीरे-धीरे शान्त हो गए।

किनारे पर उन का ढेर लगा कर मैं फिर से पानी में उतर पड़ी। पल्लू को पानी में तान कर मैं किनारे से कुछ दूर खड़ी हो गई। मेरा शरीर कमर के ऊपर उघरा हुआ था और धूप उसे छू रही थी। मैं ने अपनी परछाईं पानी में देखी और मुझे याद आ गया, दिन-ब-दिन मैं बड़ी होती जा रही हूं। डेढ़ माह बाद मुझे पन्द्रहवां साल लगने वाला था।

मछलियों को टेंट में बांध मैं वापस लौटने लगी। मुझे डर लगा, कहीं दद्दा जाग न गए हों। लेकिन वे जागे नहीं थे। उन्हें मैं जिस तरह खर्राटे भरते छोड़ गई थी, उसी तरह वह इस समय भी खर्राटे भर रहे थे।

मेरा गीला पल्लू जब पूरी तरह सूख चुका तो मैं एक भैंस की पीठ पर चढ़ कर चित लेट गई। मेरी आंखों के सामने अब बादलों से भरे आकाश के सिवा कुछ नहीं था। एक बगुला मेरे ऊपर से निकला। उस की चोंच में एक मछली थी। अचानक वह मेरी नाक पर गिर पड़ी। मैं तिलमिला गई। चिढ़ कर मैं ने उसे एक गाली दी, फिर हंसती हुई नाक को छूने लगी।

छर···छररर···

एक आवाज मैं ने सुनी, जो पहले बहुत दूर थी और अचानक फिसल कर पास आ गई। मैं ने उसे पहचाना। मैदान में बौछार दौड़ लगा रही थी। मैं भैंस की पीठ पर चित लेटी रही। भैंस आराम से चर रही थी। मेरे सिर के नीचे उस की घंटी टनटना रही थी। बौछार पास

जाती गई। उस की मार से पेड़ों के पत्ते खड़खड़ा रहे थे।

और वह आ गई। छररर! मेरे शरीर पर उस के छींटे पड़े। वे छींटे मेरी पलकों पर, कपार पर, गाल पर, नाक पर, गर्दन पर कंकड़ों की तरह गिर रहे थे और मैं खुश थी।

बौछार ने ददा को जगा दिया। उन्होंने मुझे पुकारा—"हिरना वो!"

मैं जान-बूझ कर चुप रही। भैंस की पीठ पर आधी करवट ले कर मैं ने उन की ओर देखा। वह समझ न पा रहे थे कि बौछार से बचने की कोशिश करें या नहीं। उन की आंखें मुझे खोज रही थीं।

फिर उन्होंने मुझे देख लिया। वह मेरे पास आ गए। हम दोनों मुसकराने लगे।

सहसा बौछार दौड़ कर कहीं और सरक गई। जिस तरह बादलों की परछाइयां धरती पर दौड़ रही थीं, उसी तरह बौछार भी दौड़ रही थी। उस की आवाज दूर फिसलती गई।

दूर से बंसी की वह धुन अभी तक जारी थी। ददा बौछार की छेड़ से रंग में आ गए और उन्होंने भी अपनी बंसी निकाल ली।

मैं भैंस की पीठ पर उठ बैठी। ददा भी पास चर रही दूसरी भैंस पर बैठ गए और बंसी बजाने लगे। उन की आवाज उस चरवाहे तक पहुंची, तो उस ने अपनी फूंक को और ऊंचा कर दिया। यह ददा ने भी किया। मानो बंसी की तानों से वे एक-दूसरे को छू रहे थे।

शाम ढलने लगी। हम लोगों ने वापस लौटने की तैयारी की। बौछार के बाद हम ने खाना खा लिया था। मैं ने अभी तक ददा को मछलियां नहीं दिखाई थीं। दिखाने पर मेरी चोरी पकड़ ली जाती कि मैं ददा को सोता छोड़ कर कहीं चली गई थी।

गाय-भैंसें आराम से बैठी जुगाली कर रही थीं। उन के मुंह से सफेद झाग के कतरे निकल कर आसपास गिर रहे थे। दो गाएं जमीन पर गर्दन फैला कर आधी सो गई थीं। कुछ बगुले उन के शरीर से कीड़े

निकाल कर खा रहे थे। उन की दुमें हिलतीं तो वे उछल कर अलग हट जाते और फिर से पास आ कर शरीर के रोओं में चोंचें मारने लगते।

हम ने लाठी से कोंच कर और मुंह से डचकार कर उन्हें उठाया। हमारा जुलूस-सा बन गया जो वापस लौट रहा था। ददा ने लाठी मुझे दे दी और खुद बंसी फंकते रहे। सूरज और हवा, घास और जमीन, पेड़ और पौधे, सब में जैसे नए रंग भर गए हों···

मैं उस मरियल बछड़े के पास गई। वह बार-बार पिछड़ जाता था। आगे करने के लिए मैं ने उस की पीठ पर हल्का-सा डंडा मारा। अचानक वह भरभरा कर जमीन पर गिर पड़ा। मैं भौंचक रह गई। उस के इतने कमजोर होने की मुझे आशा नहीं थी। मैं ने उसे उठाने की कोशिश की, लेकिन वह खड़ा ही नहीं हो रहा था। उस के अगले दो पैर तो ठीक थे लेकिन पिछले बिल्कुल लटक गए थे। मानो उन पैरों का शरीर की नसों के साथ कोई रिश्ता न हो, मानो वे नकली पैर हों; केवल दिखावे के लिए कील ठोंक कर पीछे जोड़ दिए गए हों।

मैं डर कर चीखी—"ददा···"

ददा ने पीछे मुड़ कर देखा। उन की बंसी चुप हो गई। उन्होंने जानवरों को रोका और दौड़ कर मेरे पास आए।

मेरी आंखों में आंसू थे।

बछड़ा जमीन पर बिछा हुआ था। ददा ने तुरन्त उस के बड़े-बड़े कान मोड़ कर आंखों को ढांप दिया। मुंदी आंखों ने बछड़े को डरा दिया। उस ने जोर से सिहर कर उठने की कोशिश की, लेकिन उस के पिछले पैर बेदम हो चुके थे।

ददा ने मेरी ओर देखा—"का कर डारे, टुरी ?"

"कुछ नहीं, पीठ मे डंडा छुआय रहीं और वह गिर परिस।"—मैं ने रुआंसी आवाज में कहा।

"जाने कौन नस पे डंडा पर गे।"—ददा ने कहा। अब उन्होंने बछड़े की नाक भी हथेली से बन्द कर दी। बछड़े का दम घुटने लगा।

आंखे तो बन्द थी ही। उस ने जोर से हुमच कर उछाल लगाई लेकिन खड़ा न हो सका। पिछली टांगों पर उसका कब्जा नहीं था।

उस की मा गले से घर-घर आवाज करती पास आ कर खड़ी हो गई थी। बेचारी! मैं ने उस की ओर देखा। उस की आंखों में कितना दर्द था!

अब?

मैं ने ददा की ओर देखा। मेरी आंखों में सवाल भरे हुए थे। बछड़े के काले जिस्म को शरीर पर फैला कर वह पास खड़े मूछों पर हाथ फेर रहे थे, जाने क्या सोचते हुए।

हम लोगों ने बछड़े को उठा कर एक भैंस की पीठ पर लादा। उस की मा उस भैंस से सट कर चलने लगी। वह करुण स्वर में बा-बा कर रही थी और मैं बेहद उदास थी।

कल्याण भवन तक पहुंचते-पहुंचते बछड़े की सांस लटकने लगी। गौशाला में ददा उसे जमीन पर उतार कर दाऊ को खबर करने गये। मैं बछड़े के पास खड़ी रही। थोड़ी देर में वह वापस लौट आए। उन्होंने बताया कि इस समय दाऊ शराब पी कर गहरी नींद में हैं।

दाऊ का मुनीम साथ आया था। उस ने कहा कि नीमतरा के कम्पोडर को बुलाना चाहिए, लेकिन इस की जरूरत न पड़ी। हमारे सामने ही बछड़े ने दम तोड़ दिया, मानों उस की मरियल जान निकल जाने के लिए कोई बहाना ही ढूंढ रही थी। मैं एक खम्भे से चिपट कर रोने लगी। ददा ने मुझे पुचकारा, मेरी पीठ पर हाथ फेरा।

कितना बड़ा अपराध किया था मैं ने। मेरे ही कारण बछड़े की मौत हुई। मुझे लगा, उस की मा मुझे घूर रही है। मुझ से यह सहा न जा सका और मैं गौशाला से बाहर निकल आई।

ददा लाश उठाने के लिए मेहतर को बुलाने चले गए। मैं घर की ओर अपने मुर्दा कदम उठाने लगी।

इतने में [illegible] मैं ने एक ओर फेंक दी।

१५

दूसरे दिन मेरा शरीर तप आया। मेरे मन में दहशत बैठ गई थी। रात-भर मैं सपने देखती रही थी···एक भैंस मेरे सामने खड़ी फुत्कार रही है। पिछले पैरों से वह धूल के बादल उड़ा रही है। वह मेरी ओर दौड़ती है। मैं भागती हूं। उस के सींग मेरी पीठ में घुस जाते हैं। मैं चीखती हूं···दाई···ई···ई···!

मैं जाग पड़ी। दाई मुझे भींच कर पूछ रही थी—"का हुआ टुरी? का बर चिल्लात हस?"

मैं उस से लिपट पड़ी।

सुबह मेरा सिर चकराने लगा। आंखें खोलीं, तो सामने नीले-नीले धब्बे तैरने लगे। मैं ने घबरा कर आंखों को मूंद लिया।

ददा ने आ कर बताया था कि बछड़े के मरने की खबर से दाऊ नाराज नहीं हुए। मैं ने तो सोचा था, वह बिल्कुल आग हो जाएंगे। इन दिनों उन का गुस्सा भड़कते कोई देर नहीं लगती थी। इतने सनकी वह पहले कभी न रहे थे। मुरारी दाऊ ने उन के दिल को बड़ा सदमा पहुंचाया था। अभी तक वह मुरारी दाऊ को हर बात में अपने से ओछा समझते रहे थे। अब मुरारी दाऊ ने उन्हें यह मानने पर मजबूर कर दिया था कि नहीं, तुम मुझ से बड़े नहीं, छोटे हो, हर मानी में छोटे। दाऊ की शराब पीने की आदत फिर से शोलों की तरह भड़क उठी थी। उन का बूढ़ा शरीर रात-दिन शराब-शराब चिल्लाता।

दोपहर को मैं और ज्यादा चीखने लगी तो दाई बहुत ज्यादा उदास हो गई। उस ने फुसफुसा कर कहा—"कहीं तोला (तुझे) बछड़े का भूत तो नहीं लग गिस?"

सुनते ही मेरे होश गायब हो गए। बछड़े की आतमा जरूर मेरे

पीछे पड़ सकती थी।

ददा चरागाह जाना तो नही चाहते थे लेकिन उन्हें जाना पड़ा। कल बछड़ा मरा था और [आज छुट्टी मागना खतरनाक था। दाऊ का सनकी दिमाग किस बात का क्या मतलब लगा बैठे, इस का क्या पता। ददा की लाचारी वह कैसे समझ सकते थे, क्योंकि उन की एक भी बेटी नही थी। बड़े बेमन से ददा चरागाह गए। जाते समय उन्होंने प्यार से मेरे तपते माथे पर हाथ फेरा।

पड़ोस की दो-तीन डोकियां मेरी खाट से लग कर बैठ गई थी। आई तो वे इस बहाने थी कि हिरना के हाल पूछ आए, लेकिन झुंड बना कर वे आपसी बातें करने लगी थी, जो मेरे बारे मे नही थी। वे जान-पहचान की डोकियों की बुराई करती रही जो मुझे अच्छा न लगा। मैं अकेली ही जाना चाहती थी। उन का हल्ला मुझे चिढ़ा रहा था। उन्ही के कारण दाई मेरे सिरहाने नही बैठी थी। वह भी उन की बातो मे रस ले रही थी। मुझे मालूम था कि वह अपने को धोखा दे रही है। उस की प्यारी हिरना को भूत लगा हुआ था और वह बुराई करने और सुनने मे मजा ले सके, यह असम्भव था। उस की दिलचस्पी नकली ही हो सकती थी। इस तरह वह केवल अपना डर दूर कर रही थी।

जब डोकिया उठ कर जाने लगीं, मुझे कुछ राहत मिली। दाई ने भिनभिनाती मक्खियो को गालिया दी और मेरा माथा छू कर घबराते हुए कहा—"ये तो और जियादा गरम हो गिस। हे भगवान, मोर नोनी की रच्छा कर!"

फिर वह दरवाजे से बाहर निकलती हुई बोली—"मैं अभी बैगा को बुला कर लात हौं।"

मैं झोपड़े मे अकेली रह गई। सुबह से मैं ने कुछ नही खाया था। मैं ने पेट को दाब कर देखा, वह मुलायम और गर्म था, लेकिन अभी तक मुझे भूख नही लगी थी।

थोड़ी देर में दाई के साथ बैगा भीतर आया। उस की मूछें लाल

और आंखें भूरी थीं। उन आंखों में विचित्र कौंध भरी हुई थी। उस कौंध से मुझे वहुत दिलासा मिला। मुझे लगा, वछड़े का भूत अव जरूर मेरा पीछा छोड़ देगा।

वैंगा वहुत देर तक मेरी आंखों को घूरता रहा। उस ने अपनी खर-खराती आवाज में कहा कि मैं भी उस की आंखों को घूरूं। मैं ने उस की वात मान ली। थोड़ी ही देर में वैंगे की आंखों की चमक से मेरी आंखों में पानी आने लगा।

उस के कान के ऊपर अधजली वीड़ी का टुकड़ा खोंसा हुआ था। सिर पर उस ने एक थैला कपड़ा पगड़ी की तरह वांध रखा था। उस कपड़े में उस के वाल पूरी तरह नहीं छिप रहे थे। उस की काफी लम्वी चोटी वाहर झांक रही थी। उस की नाक वहुत छोटी और होंठ विल्कुल काले थे। उस की मूंछें अजीव थीं। वे किनारे पर ज्यादा उगी हुई और वीच में सफाचट थीं।

उस ने मेरी आंखों से आंखें हटा कर दाई की ओर देखा—"सच्ची मे एला (इसे) भूत लगे हवै। लेकिन फिकिर नहीं, मैं शाम को आ कर सव ठीक कर देहूं।"

उस के जाने के वाद मेरी पलकें मुंदने लगीं। रात को सपनों के कारण मैं सो न पाई थी। दाई भी उनींदी होने लगी। उस ने दो-तीन वारदाने कच्चे फर्श पर विछाए और वांहों का तकिया वना कर लेट रही।

जव मेरी नींद खुली तो शाम ढल चुकी थी। दाई उठ कर दीवार से पीठ टिकाए खामोश वैठी थी।

उसी समय ददा भी लौट आए। दाई ने उन्हें वताया कि शाम को वैंगा आने वाला है। उन के चेहरे पर छाए वादल कुछ देर के लिए फटे। चुपचाप उन्होंने वीड़ी सुलगाई और धुआं उड़ाने लगे—धुआं, जो मुझे पसन्द नहीं था।

आकाश में चीलें वोल रही थीं। कभी-कभी झोपड़े में चूहों की खड़-

खड़ाहट होती। एक बिल्ली ने भीतर झांका और हमें देख कर वापस लौट गई।

शाम को बैंगा आया। उस ने दाई से कंडे की राख मागी। आज चूल्हा नही जला था और कल की राख बरतन माजने मे खत्म हो गई थी। दाई-ददा ने केवल नाम के लिए वासी और पसिया पेट मे डाल लिया था। दाई पडोस मे गई और राख ले आई।

बैंगे ने मेरी खाट खींच कर झोपड़े के बीच में कर दी। पहले खाट दो तरफ से दीवारो से सटी हुई थी। इस से उस के चारो ओर राख का घेरा नहीं बन सकता था।

बैंगे ने चुटकी मे राख भरी और घेरे के बाहर उकड़ू बैठ गया। मैं उठ बैठी थी और उस के काले होंठों की ओर देख रही थी। वे जल्दी-जल्दी हिल रहे थे और उन के बीच से केवल श जैसी सिसकारी के सिवा कोई आवाज नही हो रही थी। फिर बैंगे ने एक गहरी सास भरते हुए चुटकी की राख को फ़ू ऊ करते हुए मेरी ओर उड़ाया।

यो कई बार मेरी ओर राख उड़ा कर वह उठ खड़ा हुआ और जोर से जम्हाई ली। ऊआ करता हुआ उस का मुह खुला और खच से बन्द हो गया। हस कर उस ने कहा—"भूत तगड़ा हवै। देखा नही, कतैक जोर से जम्हाई आइस!"

दूसरे दिन वह अपने साथ मिर्च का बुरादा लाया। आज भी मेरा बुखार हल्का नही हुआ था। उस ने गुस्से से मेरी ओर देखा, मानो मैं ही भूत न उतरने की जिम्मेदार होऊ। फिर कल की ही तरह खाट बीच में खिसका कर चारो ओर राख का घेरा बनाया और मत्र पढ-पढ कर मेरी ओर राख उड़ाने लगा।

उस की हरकतो मे आज बहुत विश्वास और उत्तेजना थी, जिस के कारण मेरी आखो मे एक नशा-सा छा गया। उस ने जलते कडे पर अगर डाल कर धुआ किया। धुए का मोटा अजगर छत की ओर उठने लगा। छत के पास जा कर वह ऊपर चारो ओर फैलने लगा।

देर में वह पूरे झोपड़े में भर गया।

वैंगे ने चुस्त लाल जांघिया पहना था। अचानक उस ने घुटनों के ऊपर हथेलियों से ताल दिए और मेरी ओर देख कर चीखा—"जावे या लड़वे ?"

मैं कुछ न समझी और चुप रही।

अब तक मेरे सामने लईकों और डौकियों (बच्चों व औरतों) की भीड़ जमा हो गई थी। सब की आंखें मुझे घूर रही थीं, एक टक। और मैं घबरा गई। धुएं के कारण हर चीज धुंधली हो रही थी। मैं ने घबराहट को जीतने के लिए अपना सिर हिलाया।

"ओइओ ! नहीं जावे ?"—मेरे सिर हिलाने को भूत का जवाब समझ कर वैंगा चीखा। उस ने जांघों पर ताल दिया और एक थाल में जलता कंडा रख कर मेरी आंखों तक ले आया। "बोल, जावे या नहीं ?" उस के दूसरे हाथ में मिर्च का बुरादा था।

मैं ने ऐसा महसूस किया जैसे कोई चीज मेरे भीतर रेंगी। शायद यह मेरा भरम था, लेकिन उस से मेरी आंखों में खुमारी भर गई। मैं ने कई औरतों व लड़कियों पर भूत-जिन्न चढ़ते देखा था। आज वही मेरे साथ हो रहा था। कंडे के धुएं से मेरी आंखें जलने लगीं। मैं ने अपना सिर पीछे हटाने की कोशिश की।

"बड़ा सैतान हवै ए भूत। नहीं जावे, ऐं ? कईसे नहीं जावे।"—उस की कर्कश आवाज कनखजूरे की तरह मेरे कानों में घुसी।

मैं ने पाया, दो औरतों ने मेरे हाथ पकड़ कर डैनों की तरह फैला दिए हैं। उन्होंने और वैंगे ने नाक पर कपड़े बांध लिए। मैं समझ गई, वे क्या करने वाले थे। मैं जोर से चीखी, उछली, लेकिन उन औरतों में मुझ से कहीं ज्यादा ताकत थी। और जब मैंने देखा कि उन में से एक खुद दाई भी थी तो मैं बड़े हैरत में पड़ी। अचानक मेरी नाक में जलती मिर्च का धुआं घुसा और मैं खांसते-खांसते बेदम हो गई।

"बोल, जावे कि नहीं ?"—वही घिनौनी आवाज।

खांसी के मारे मुझे होश नहीं था।

फिर से वही धुए का बादल !

खासते-खासते मैं उलट गई। खांसी से हिलते सिर को वैगे ने शायद भूत का जवाब माना हो या कोई और बात हुई हो, लेकिन उस के बाद उस ने फिर मुझे न सताया। मैं ने उस के हसने की आवाज सुनी।

मेरे हाथ खोल दिए गए। मैं जोरों से रोने लगी। अभी तक मैं खांस रही थी। मेरी खाट हिल-हिल कर अपनी जगह से हट जाती।

दाई मुझे पुचकार रही थी—"भईगे नोनी, भईगे। सब निपट गिस। भूत भाग गिस।"

मैं ने उस पर विश्वास कर लिया।

१६

दक्षिण भारत का सफर कर के दाऊ के दोनों बेटे करतरा वापस लौटे, तो मुझे दाऊ के वे शब्द याद आए जिन्हें मैं ने उस दिन हवेली के भीतरी चौक में सुना था—'मुरारी ! लौटने दो मेरे बेटों को, मैं तोर (तुम्हारा) खून करवा देहूं ! का समझा ?'

लेकिन ऐसा कुछ नहीं हुआ। मैं रोज शाम को ददा के लौटने का इन्तजार करती। लौट कर वह हवेली के समाचार सुनाया करते। चढ़ती सुबह मैं छाछ लेने हवेली जाती और लौट आती। उतनी देर में मुझे वहां की शायद ही किसी नई बात का पता चलता।

सफर से लौटने के बाद दाऊ के दोनों बेटे दुबले और सांवले हो गए थे। दिन-भर वे बहुओं के साथ कमरों में घुसे रहते और थकान मिटाते। उन के लिए दूध-खोए की चीजें ज्यादा बनने लगी थीं, जिस से हम लोगों के सिवा गांव के दूसरे लोगों को हवेली से जो थोड़ा-बहुत गोरस मिलता था वह कम या बन्द कर दिया गया था।

ददा ने बताया था कि दाऊ के दोनों बेटे मुरारी दाऊ के हंगामे पर खास गुस्सा नहीं हुए थे। उन्होंने 'जो हो गया, हो गया। गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या फायदा' वाला रुख अपनाया था। दाऊ ने बड़े बेटे से बहुत कहा कि वह गांव के मुसटंडों को साथ ले कर दानीपुर जाए और मौका पा कर मुरारी दाऊ का सिर फोड़ दे, लेकिन पिता की उत्तेजना पर उस ने कोई ध्यान नहीं दिया था। पहले तो उस ने हां-हूं की, फिर साफ कह दिया कि ऐसा नहीं हो सकता, यह बेवकूफी है। छोटे भाइयों ने भी बड़े का साथ दिया। दाऊ मन मसोस कर रह गए। उन्होंने अपने तईं मुसटंडों को जमा करने की कोशिश की, लेकिन बेटों ने यह भी न होने दिया। "जहां तक मैं समझयों,"—ददा ने कहा था—"दाऊ के बेटों में

बाप के लिए रत्ती-भर इज्जत नहीं हुई।"

यही मुझे भी लगता था। दाऊ का अदब तीनों करते जरूर थे, हर छोटे-बड़े सफ़र से लौट कर वे उन के पैर छूते थे, लेकिन सब मुझे दिखावटी लगता था। पिता के विचारों से उन के विचार मेल नहीं खाते थे, लेकिन वे कभी पिता का विरोध नहीं करते थे। एक बार गलियारे में घूमते समय मेरे कान में उन की बातचीत का एक हिस्सा पड़ा था—"'''अब बुड्ढ़ा से कहां तक उलझें!'''थोड़ेन दिन का तो मेहमान'''" मैं झटपट आगे बढ़ गई थी। कहीं वे यह शक न कर बैठें कि मैं उन की बातें सुनना चाहती हूं।

लेकिन जितना मैं ने सुना था, काफी था। अब मैं समझदार हो गई थी। क्या ये तीनों अपने पिता के मरने का इन्तजार कर रहे हैं? मान लो, दाऊ मर जाते हैं। तब ये तीनों क्या करेंगे?

बड़ा बेटा बहुत मोटा था और दिन-ब-दिन फूलता जा रहा था। उस के दांत काले पड़ने लगे थे, क्योंकि वह दिन-भर पान चबाता था। कालिज में दो साल पढ़ने के बाद फेल हो कर वह वापस आ गया था। उसे कोई भी काम करना पसन्द नहीं था।

बड़ी बहू कई बार उस के गुणों का बखान करती हुई कहती कि उस का पति लड़कियों को स्कूल भेजना पाप नहीं समझता। दुख तो यही था कि अभी तक उन लोगों के एक भी सन्तान नहीं थी। वह यह भी बताती कि उस का पति घूंघट निकालने के खिलाफ है। मैं ने एक बार पूछा था कि फिर तुम क्यों घूंघट निकालती हो, तो उस ने कहा था—"वो अपने पिता की इज्जत करते। उन का जी नहीं दुखाना चाहते।" इस जवाब में यह बात छिपी हुई थी कि दाऊ के मरने के बाद उस का पति उस से घूंघट नहीं निकलवाएगा। लेकिन दाऊ के बाद वह घूंघट निकालेगी भी किस का। ठकुराइन को स्वर्ग सिधारे कई साल गुजर चुके थे। दाऊ के बाद घर की मालकिन बड़ी बहू ही बनने वाली थी। घूंघट का सवाल नहीं उठता था।

उस के द्वारा बखाने गए गुण उस के पति में ज़रूर हो सकते थे, लेकिन वे गुण बहुत छोटे थे और आम जनता के सामने नहीं आए थे। शायद वे गुण बड़ी बहू ने जबर्दस्ती खोज निकाले हों। देखा तो यही जाता था कि उस का पति दिन-भर रेडियो सुनता है या अख़बार पढ़ता है जो रोज सुबह दानीपुर से आने वाली पहली बस से यहां पहुंचता था।

कभी-कभी वह खेतों की ओर चला जाता, जहां नौकर खेती करते थे। नौकर का काम कैसा होता है, और वह भी जब मालिक ही लापरवाह हो, यह कौन नहीं जानता। दाऊ अपने बूढ़े शरीर के साथ वहां जा नहीं पाते थे, उन के बेटों को खेतों की परवाह नहीं थी। खेती हवेली की आय का सब से बड़ा जरिया थी। यों दाऊ सूद का रुपया भी उठाते थे, जिसे वसूलने में वह इन्सानियत को ताक पर रख देते थे, लेकिन सब से ज्यादा फायदा खेती से था। खेतों की ओर यदि थोड़ा भी ज्यादा ध्यान दिया जाता, तो हवेली को काफी आय हो सकती थी, लेकिन ध्यान दे कौन ?

बड़ा बेटा शतरंज का शौकीन था। छोटे भाई के साथ उस की बाजी अकसर जमती। कई बार तो खुद दाऊ भी उस के साथ बाजी लगा बैठते। दोनों मंजे हुए खिलाड़ी थे, बाजी दिनों तक जमती। कभी बाप जीतता, कभी बेटा। यदि दाऊ जीत जाते, कई दिनों तक खुश रहते। हार जाते, बेटे को खूब लताड़ते कि शतरंज जैसा बुरा खेल वह क्यों खेलता है।

गनीमत थी, बड़ा बेटा शराब नहीं पीता था। उस की सब से बड़ी बुराई आलस थी। खा-पी कर चित पड़े रहना उसे बहुत अच्छा लगता था। इसी से वह दिन-ब-दिन फूलता जा रहा था।

मंझला बेटा तुलना में कुछ समझदार था। वैसे, शतरंज वह भी खेलता था लेकिन शतरंज के पीछे दीवाना नहीं था। वह अकसर खेतों पर भी चला जाता। उतरी हुई फसल की बिक्री का इन्तजाम वही करता। यही कारण था, क्यों उस की बहू इतना इतराती थी, रसोई का काम

करने की बजाए दिन-भर हिंडोला झूलती थी। लेकिन मझले बेटे में सब से बडी कमजोरी यह थी कि वह नौकरों के साथ सख्ती नही कर पाता था। वे उस के साथ करीब-करीब उसी तरह मजाक कर सकते थे, जिस तरह वे अपने दोस्तों के साथ करते थे। गाव के लोग अकसर मेहनती समझ जाते हैं, लेकिन उन से मेहनत करवानी पड़ती है। छूट देने पर तो वे सिर चढे हो जाते हैं।

हवेली की बहुत-सी जमीन किसानों को जोतने के लिए किराये पर उठा दी गई थी। कुछ जमीनें बहुत दूर थीं। वहा कितनी फसल हो रही है, इस का अन्दाजा नही लग पाता था। जानवर चर गए, सडाँध लग गई, कीडे पड गए वगैरह बहाने बना कर किसान यह जमाते कि कि फसल कम-से-कम हुई है। इस प्रकार फसल के हिस्से के रूप मे जो वसूला जाता, वह बहुत कम होता।

हवेली इतनी बडी थी और रहने वाले इतने थोडे कि वह भुतही लगती थी। उस की पुरानी शान टिकाए रखने की पूरी कोशिश की जाती थी, लेकिन असफलता ही हाथ लगती।

सब से छोटे बेटे को मैं ज्यादा नही जानती था। पढाई के सिलसिले में वह अकसर शहर मे रहता था।

हा, तो, दाऊ के मरने पर ये क्या करेंगे ? जहा तक मैं सोच पाती, उन के अलग-अलग हो जाने की ही ज्यादा गुजाइश थी।

आप कहेंगे, दाऊ के बेटो के बारे मे इतना ज्यादा बताने की मुझे क्या जरूरत है। परन्तु सोचिए, उन के साथ मेरे कुटुम्ब की तकदीर बंधी हुई थी। हम लोग कई पीढ़ियों मे दाऊ के ग्वाले थे। अभी तक दाऊ के कुटुम्ब मे बंटवारे का कोई मौका नही आया था। यदि उन के मरने के बाद उन की जायदाद बटती तो हमारा कही कोई ठौर नही था। गौशाला तब जरूर टूटती और हमें किसी नए धन्धे की तलाश करनी पड़ती। नया धन्धा, जिस का हमे कोई अनुभव नहीं था।

यो, ददा खुद ग्वाले का धन्धा छोड़ना चाहते थे। दाऊ दुखमो-

के दांत किस तरह उन की गर्दन पर गड़े हुए थे, यह मैं विस्तार से पहले ही बता चुकी हूं। कोई अच्छा घरजमाई मिल सके, इस के लिए जरूरी था कि ददा धनी हो जाएं। और ग्वाले बने रह कर ददा पैसा नहीं कमा सकते थे। ग्वालों का मान भी कम था। काने चौधरी ताना कस ही चुके थे।

अजीब स्थिति में हम लोग जी रहे थे। ग्वाले का काम छोड़ कर कौन-सा काम करना चाहिए, यह ददा को मालूम नहीं था। दाई-ददा में इस को ले कर चर्चा होती और दोनों मिल कर भी कुछ तय न कर पाते।

ददा का विश्वास था कि जब तक दाऊ जिन्दा हैं, उन की नौकरी को आंच नहीं आएगी। जिस धन्धे को वह छोड़ना चाहते थे, उसी धन्धे के लिए चिपकाव महसूस करना उन्हें जरूरी लगता था।

लेकिन ऐसा नहीं हुआ। मुरारी दाऊ ने अपने ग्वाले को छुट्टी दे दी है, ऐसे समाचार मिले और जिस बात की मुझे शंका थी, वह सामने आ कर रही। ददा का विश्वास गलत निकला। बेहद शराबखोरी के कारण खोखले हो गए शरीर को आरामकुर्सी के झोल में डाले दाऊ दुखमोचन-सिंह बैठे थे। हुक्के की नाल उन के झुर्रियों वाले मुंह में थी। सिर के आसपास धुआं घिरा हुआ।

गोरस की मटकी सिर पर उठाए मैं घर जाने के लिए गलियारे से बाहर निकली। तुरन्त दाऊ ने हाथ के इशारे से मुझे पास बुलाया। मैं ने देखा, उस हाथ में किस बुरी तरह नसें उभरी हुई थीं।

मुझे १५वां साल लग चुका था। [मुझ में शर्म बढ़ती जा रही थी। सकुचाती-सकुचाती मैं उन के पास जा कर खड़ी हो गई।

दाऊ ने कहा—"शाम को अपन ददा से कहबे कि मोला (मुझे) मिल के जाए।"

मैं ने घर आ कर दाई को यह बात कही तो वह पीली पड़ गई। मुरारी दाऊ के ग्वाले की नौकरी छूटने की बात वह सुन चुकी थी।

शाम को ददा लौटे और थामी खा कर दाऊ से मिलने गए। वहां से रात हुई तब कहीं वह वापस आए। उन का चेहरा गिरा हुआ था। आ कर वह खाट पर निढाल हो गए।

दाऊ ने साफ कह दिया था, अब हमें ग्वाला नहीं चाहिए। हमारे जानवर गांव के और जानवरों के साथ चरने चले जाएंगे।

के दांत किस तरह उन की गर्दन पर गड़े हुए थे, यह मैं विस्तार से पहले ही बता चुकी हूं। कोई अच्छा घरजमाई मिल सके, इस के लिए जरूरी था कि ददा धनी हो जाएं। और ग्वाले बने रह कर ददा पैसा नहीं कमा सकते थे। ग्वालों का मान भी कम था। काने चौधरी ताना कस ही चुके थे।

अजीब स्थिति में हम लोग जी रहे थे। ग्वाले का काम छोड़ कर कौन-सा काम करना चाहिए, यह ददा को मालूम नहीं था। दाई-ददा में इस को ले कर चर्चा होती और दोनों मिल कर भी कुछ तय न कर पाते।

दादा का विश्वास था कि जब तक दाऊ जिन्दा हैं, उन की नौकरी को आंच नहीं आएगी। जिस धन्धे को वह छोड़ना चाहते थे, उसी धन्धे के लिए चिपकाव महसूस करना उन्हें जरूरी लगता था।

लेकिन ऐसा नहीं हुआ। मुरारी दाऊ ने अपने ग्वाले को छुट्टी दे दी है, ऐसे समाचार मिले और जिस बात की मुझे शंका थी, वह सामने आ कर रही। दादा का विश्वास गलत निकला। बेहद शराबखोरी के कारण खोखले हो गए शरीर को आरामकुर्सी के झोल में डाले दाऊ दुखमोचन-सिंह बैठे थे। हुक्के की नाल उन के झुर्रियों वाले मुंह में थी। सिर के आसपास धुआं घिरा हुआ।

गोरस की मटकी सिर पर उठाए मैं घर जाने के लिए गलियारे से बाहर निकली। तुरन्त दाऊ ने हाथ के इशारे से मुझे पास बुलाया। मैं ने देखा, उस हाथ में किस बुरी तरह नसें उभरी हुई थीं।

मुझे १५वां साल लग चुका था। [मुझ में शर्म बढ़ती जा रही थी। सकुचाती-सकुचाती मैं उन के पास जा कर खड़ी हो गई।

दाऊ ने कहा—"शाम को अपन दादा से कहबे कि मोला (मुझे) मिल के जाए।"

मैं ने घर आ कर दाई को यह बात कही तो वह पीली पड़ गई। मुरारी दाऊ के ग्वाले की नौकरी छूटने की बात वह सुन चुकी थी।

शाम को दादा लौटे और बासी खा कर दाऊ से मिलने गए। वहां से रात हुई तब कहीं वह वापस आए। उन का चेहरा गिरा हुआ था। आ कर वह खाट पर निढाल हो गए।

दाऊ ने साफ कह दिया था, अब हमें ग्वाला नहीं चाहिए। हमारे जानवर गांव के और जानवरों के साथ चरने चले जाएंगे।

वैसे, दाऊ ने बहुत कठोरता दिखाई थी, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता था। यह तो केवल दुनियादारी की बात थी। मुरारी दाऊ से होड़ के ही कारण उन्होंने हमें ग्वाला बना रखा था, अब उन्हें हमारी क्या जरूरत हो सकती थी। दाऊ ने वचन दिया था कि वह ददा को डेढ़ सौ रुपए देंगे, जिस से हम इस दुनिया में बिल्कुल बेसहारे न फेंक दिए जाएं। उन्होंने ददा को बहुत देर तक समझाया था कि डेढ़ सौ रुपयों में क्या-क्या धन्धे किए जा सकते हैं, लेकिन वे धन्धे ऐसे नहीं थे जिन से हमारा मान बढ़ता। ददा ग्वाले के काम से कोई ऊंचा काम करना चाहते थे। बिना इज्जत के उन की घरजमाई रखने की हौंस पूरी न हो सकती थी। दाऊ ने ऐसा एक भी काम नहीं सुझाया था। लेकिन खैर, उन्होंने सुझाव दिए थे, इसी से जाहिर था कि उन्हें हमारी थोड़ी-बहुत परवाह तो थी ही। डेढ़ सौ रुपए भी हम लोगों के लिए छोटी बात नहीं थी।

दाऊ ने हमें कोई मुहलत नहीं दी थी कि कब हमें अपना झोपड़ा खाली कर देना चाहिए, लेकिन जब नौकरी छूट ही चुकी थी, तो झोपड़े में कम-से-कम रुकना ही ठीक था। दाऊ के सामने जा कर यह कहना कि हम फिलहाल झोपड़ा नहीं छोड़ेंगे, आप बेशक हम से किराया ले लीजिए, न मुझे पसन्द आया, न दाई-ददा को।

साथ ही हम लोगों ने यह भी तय कर लिया था कि हमें करतरा में नहीं रहना है। हम किसी छोटे शहर या बड़े कसबे की शरण लेना चाहते थे, जहां ददा अपनी किस्मत आजमा सकें।

तीसरे दिन दाऊ ने अपने हाथों से ददा को डेढ़ सौ के नोट थमा दिए। विदाई की भेंट के रूप में उन्होंने मेरे लिए लाल किनारी वाली हरी धोती और दाई के लिए हरी किनारी वाली लाल धोती भी दी। ददा को सफेद धोती मिली।

जब ददा ने वे चीजें ला कर दिखाईं, तो मुझे लगा, वे हमारी खिल्ली उड़ाती हुई कह रही हैं, 'अब कभी हवेली मत आना, हवेली को तुम्हारी

जरूरत नही है।' जी तो हुआ, कह दूं, ददा, इन्हें वापस दे आइए, लेकिन दाई ने उन्हें चुपचाप पेटी में रख लिया।

इन दो दिनों मे दाई के स्वभाव में विचित्र परिवर्तन आया था। पैसे-पैसे को वह दांत से पकड़ रही थी, मानो अचानक हम भिखमंगे हो गए हों। कल अभी मुश्किल से सोने का समय हुआ था कि उस ने लालटेन बुझा दिया था। साधारण तौर पर सोने के बाद भी हमारे यहां लालटेन धीमा-धीमा बलता रहता था। मैं ने चकित होते हुए दाई से पूछा था—"कावर? लालटेन कावर बुझा दिस?"

उस ने एक गहरी उसास ली थी, एक घड़ी चुप रही थी, फिर फुस-फुसाते हुए कहा था—"हम मन गरीब हवें। फिजूल का तेल कईसे बारें?"

उस की बात ने ददा को हंसा दिया था, लेकिन उन की हंसी आज बदली हुई थी। दाई का मजाक उड़ाते हुई जब उन्होंने कहा था—"हिरना के दाई, तोर अकल सठिया गे हवे। भला दू पईसा का तेल बचा के हम कौन से अमीर हो जाएंगे?" तो उन की आवाज ऐसी थी, मानो वह दाई का नही, अपना ही मजाक उड़ा रहे हो।

मैं उन की बच्ची थी, इस नाते उन के स्वभाव को पूरी तरह समझती थी। उन्होंने जिन्दगी-भर केवल ग्वाले का काम किया था। उन की हर बात से अजीब भोलापन टपकता था। उन्होंने कभी भी इस तरह मेहनत नही की थी, जिस तरह एक कुली या खदान का मजदूर करता है। ग्वाले का काम सैर-सपाटे का काम था, उस में इस की कोई जरूरत नही थी। सुबह-शाम गाय-भैंसें दुहिए, दोपहर उन के साथ हरी घास के मैदानों में गुजारिए। मुझे वह ढलती दोपहर याद आई जब मैं भैंस की पीठ पर चित लेटी हुई थी और दूर से पानी की बौछार [illegible] पर बूंदों की टपटपाहट करती, दौड़ती हुई आई थी और मुझे भिगो कर आगे फिसल गई थी। मैं कितनी खुश थी उस दिन, जब दूर से [illegible] किसी अनजाने ग्वाले की बंसी की तान का जवाब [illegible] बंसी ने दिया था। जिन्दगी की यह मौज, जिस में [illegible]

पसीना नहीं वहता, भला और किस धन्धे में मिल सकती थी ।

और अव यह धन्वा, पीढ़ियों से लगा हुआ यह धन्धा छूट गया था। ददा ने किसी तरह दो सौ रुपए जमा किए थे, डेढ़ सौ दाऊ ने दिए। कुल साढ़े तीन सौ की पूंजी हमारे पास थी और हमें करतरा छोड़ देना था।

कभी-कभी कई वातें, जो मन में उठती हैं, समझाई नहीं जा सकतीं। आज हमारी वैसी ही दशा थी। पता नहीं क्यों, हमें लग रहा था, कोई नया धन्धा हम करतरा में शुरू कर ही नहीं सकते। जिस गांव के वच्चे-वच्चे ने हमें कल्याण भवन के ग्वाले के रूप में देखा है, उन्हीं के सामने हम कैसे भेस वदल सकते थे। जिस झोपड़े की छत के नीचे वैठ कर हम ने सालों तक दाऊ दुखमोचनसिंह का गोरस पिया था, उसे छोड़ कर उसी गांव में दूसरा झोंपड़ा किराए पर लेने की हम सोच ही न सके। नौकरी छूटने के वाद जव भी दाऊ से या हवेली के किसी आदमी से सामना होगा, क्या-क्या भाव न उठेंगे हमारे मन में ।

यह भी हो सकता था कि गांव में हमारा मान और घटता। अन्दरूनी कारण कौन जान सकता था। लोग तो यही समझते कि ददा ने कोई कसूर किया होगा, जिस से उन की नौकरी छूटी।

नहीं, करतरा में हम नहीं रह सकते थे। लेकिन करतरा छोड़ कर कहां जाएं, यह भी हम एकाएक तय न कर पाए।

नया दिन उगा। वह वहुत उदास था। मैं ने दाई की आंखों में ऐसे भाव देखे, जो मेरे लिए अनजाने थे। दिन-भर दाई ऐसी लगती रही, मानो अभी सो कर उठी हो। उस के चेहरे पर वाल विखर आए थे, जिन्हें वह ठीक न कर रही थी। उसे समझ में न आ रहा था, क्या करे। वह न लेट सकती थी, न वैठ सकती थी, न टहल सकती थी। वह चुप नहीं रह सकती थी और वोलने पर झुंझला पड़ती थी। मैं पिछले हफ्ते से धीरे-धीरे उस का स्वभाव वदलते देख रही थी। वह वार-वार वाहर जा कर पास की एक पतली नाली में थूकती। उस समय उस का हाथ गर्दन और वक्ष को दावे रहता।

दोपहर तक ददा घर में बैठे झुंझलाते हुए बीड़ियां फूंकते रहे। दाई के साथ उन की बहुत छोटे-छोटे वाक्यों में बातें होतीं। वे वाक्य कुछ इस तरह कहे जाते, मानो दाई-ददा झगड़ रहे हों, छीना-झपटी कर रहे हों।

दोपहर के बाद सनकियों की तरह ददा अचानक बाहर चले गए और शाम के बिलकुल मुर्दा हो जाने पर लौटे। भीतर आ कर सड़ाप-सड़ाप नमक के साथ चावल और पसिए के कुछ कौर भरे और फिर बाहर चले गए। उन्होंने अपने लिए रात की नौकरी ढूंढ ली थी। एक किसान ने खेत की रखवाली करने के लिए हर रात के पचत्तहर नए पैसे उन से तय किए थे।

रात को दो घंटों तक आकाश काफी तेजी से बरसता रहा। मैं जाग गई। छत पर छरछराहट हो रही थी, बूंदें गिरने की छरछराहट। लालटेन दाई ने बुझा ही दिया था। मैं ने अंधेरे में एक करवट ली। सोचा कि ददा इस समय क्या कर रहे होंगे। शायद वह खेत में चार या छह बांसों के ऊपर छाए गए छोटे-से झोपड़े में बैठे बीड़ियां फूंक रहे होंगे और उन की आंखों में नींद भर रही होगी। जहां तक मुझे याद था, यह पहला मौका था, जब वह पूरी रात के लिए जाग रहे थे। आदत पड़ जाने पर तो जागना आसान है, लेकिन बिना आदत के यह बड़ा कठिन काम है। जमीन से सात-आठ हाथ ऊंचे उस झोपड़े में अन्धेरा छाया होगा और कश लेने पर ददा की बीड़ी लाल तारे-सी चमकती होगी। हवा के झोंके झोपड़े में सीधी घुस रहे होंगे और उन के साथ बौछार भी भीतर झांकती होगी।

कितनी जल्दी ददा ग्वाले से चौकीदार बन गए थे! ददा के पास अभी यह सोचने का समय नहीं था कि चौकीदारी करना मान का काम है या नहीं। उन के सामने बस दो चीजें नाच रही होंगी—पचहत्तर नए पैसों के सिक्के और एक रात।

दूसरे दिन सुबह थके-हारे ददा लौटे और रात-भर की कमाई दाई

की सूखी, कड़ी हथेली में थमा कर खाट पर पसर गए। थोड़ी ही देर में उन्हें नींद आ गई। भिनभिनाती मक्खियों से बचने के लिए उन्होंने सिर तक कपड़ा ओढ़ लिया।

दिन चढ़ा। गोरस लेने के लिए हवेली जाने का मेरा समय हुआ। मैं ने उस छोटी-सी लाल मटकी की ओर देखा जो आज खाली थी और आगे भी खाली रहने वाली थी। इस मटकी को फोड़ क्यों न दूं? मैं ने अपने को रोका। दाई एक-एक पैसे की कंजूसी कर रही थी, वह मकीट ढाई आने से कम की नहीं थी।

मैं ने दाई को वाहर जाते देखा। आंगन में बैठ कर उस ने कै कर दी। मैं तुरन्त उस के पास दौड़ी। कै? दाई बीमार तो नहीं पड़ रही? वह ओक्-ओक् कर रही थी और उस के मुंह से लार का तार वंध गया था। उस की आंखें भर आई थीं और वह झुंझला कर कुछ बड़बड़ा रही थी। मैं उस की पीठ पर हाथ फेरती रही।

जब मैं कुल्ले के लिए पानी लाने भीतर गई, तो मैं ने देखा, ददा ने सिर पर से चादर हटा ली है और गर्दन मोड़ कर अजीब-सी निगाह से दाई की पीठ को घूर रहे हैं।

आज शनिवार था। बाबा सिद्धनाथ की जिस मानता के बाद मैं पैदा हुई थी, उस के अनुसार आज ददा को अकेले या दाई के साथ दो मील पैदल चल कर बाबा के मन्दिर तक जाना था और रास्ते के चींटियों के बिलों पर बाजरे, चने और गेहूं का मिला हुआ आटा छिड़कना था।

खाना खा कर ददा फिर सो गए और शाम को उठे।

दाई ने कहा—"मोर तबियत बने (ठीक) नहीं हवै। मैं नहीं चलहूं।" उस ने कटोरे में ददा को आटा दिया, तो मैं ने देखा, कटोरा अधूरा भरा हुआ था। मुझे बुरा लगा, मानो मेरा अपमान हुआ हो। मानता चींटियों पर पूरा कटोरा भर कर आटा छींटने की थी, जिसे आज पहली बार तोड़ा जा रहा था और जैसा कि मैं इधर-उधर से सुन चुकी

थी, ऐसा करने से मुझ पर मुसीबतों का पहाड़ टूट सकता था ।

मैं ने तुरन्त ददा के हाथ से कटोरा ले लिया । ददा ने मना नहीं किया । शायद वह मुझ से इसी की आशा कर रहे थे । मैं ने नफरत से दाई की ओर देखा । वह शर्मिन्दा हो कर दूसरी ओर घूम गई । मैं ने कटोरे को आटे से पूरा भरा और ददा को दिया । ददा बाहर निकल गए । बाबा के मन्दिर की ओर उन के कदम जल्दी-जल्दी उठ रहे थे । मैं पीछे से उन्हें देखती रही । मैं ने उन्हें दो-तीन बार जमीन पर झुकते देखा । हाथ बढ़ा कर वह चींटियों के ऊपर आटा छिड़क रहे थे । फिर वह एक नुक्कड़ पर मुड़ कर आंखों से ओझल हो गए ।

रात को फिर वह उस खेत की ओर रवाना हुए । रात'''सिक्के'''

दूसरे दिन सुबह लौटते समय ददा खेतों से मछलियां पकड़कर लाए। उन में से कई अभी तक जिन्दा थीं और पानी के बिना अपने छोटे-छोटे मुंह बार-बार खोल कर सिहर रही थीं । दाई ने ददा की तारीफ की, क्योंकि इन मछलियों ने हमारे भोजन का काफी खर्च बचा दिया था । वह मछलियों को पत्थर पर घिस कर उन की चिकनाहट दूर करने लगी । लगभग सभी मछलियां मर चुकी थीं, लेकिन कुछ फर्श पर करवटें रगड़े जाने के बावजूद जिन्दा थीं । दाई उन्हें कड़ाही में भूनने लगी तो वे तड़प कर उछलने लगीं और कई बार कड़ाही से बाहर भी गिर पड़ीं । दाई ने उन्हें फिर से उठा कर कड़ाही में डाल दिया । इस में जैसे उसे मजा आ रहा था । और दिनों तो वह जिन्दा मछलियों को दीवार या जमीन पर पटक कर मार डालती थी, लेकिन आज उन्हें जिन्दा ही भून रही थी ।

ददा दोपहर को जाग गए । हम तीनों पास-पास बैठे और बातें करने लगे । लगा, मानो हम सब एक-दूसरे के लिए अपरिचित हैं ।

अपने-आप हम मुरारी दाऊ की बातें करने लगे । वह अनजाने में ही हमारे मन पर छा गए थे । कुछ देर बाद यह तय कर लिया गया कि हमें यहां से दानीपुर चले जाना चाहिए, जहां मुरारी दाऊ रहते हैं । वह

जरूर हमारी मदद करेंगे। मुझे याद आया, उस दिन हवेली में उन्होंने किस तरह प्यार से मेरी पीठ थपथपाई थी। मुरारी दाऊ ददा को जरूर कोई काम दिला देंगे। यह सच था कि उन्होंने अपने ग्वाले को छुट्टी दे दी थी, लेकिन पहले उन्होंने उसे जरूर किसी काम से लगा दिया होगा। जाने क्यों हमें ऐसा विश्वास था।

कहां जाना है, यह पक्का होते ही हम लोगों के मन की निराशा छट गई। जल्दी-जल्दी हम लोग सामान बांधने लगे। तीन छोटी खाटें, जो जमीन से एकाध हाथ ऊंची थीं, खोल कर एक साथ बांध दी गईं। उन की रस्सी के झोल में इने-गिने बरतन भर दिए गए। तवा, थालियां, पतीलियां, चम्मचें, बटलोई आदि को एक बोरे में भर कर उस का मुंह सी दिया गया। पड़ोस की दो डौकियां आ कर हमें मदद करने लगीं। हम लोगों ने उन का बड़ा आभार माना, क्योंकि हमारे जाने के कारण वे बड़ी उदास थीं। उन्होंने पूछा कि दानीपुर में हम लोग क्या धन्धा करेंगे। ददा ने कहा कि अभी से इस बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। पहले हम वहां पहुंच तो जाएं, फिर सोचेंगे।

हमारा इतना ज्यादा ढुलमुलपन उन्हें पसन्द न आया, लेकिन हमारे मन की हालत उन्हें आखिर कैसे समझाई जाती? हम दानीपुर जा कर मुरारी दाऊ से मिलने के सिवा और कुछ नहीं कर सकते थे।

उन औरतों ने सुझाव दिया कि पहले ददा अकेले दानीपुर जाएं और मुरारी दाऊ से मिल कर सारी बात समझें। हम ने उन का सुझाव अच्छा होते हुए भी न माना। दिमाग उन की बात मान रहा था, परन्तु मन में उस के लिए जगह नहीं थी। मन तो चीख-चीख कर कह रहा था, यह झोपड़ा छोड़ो, यह तुम्हारा नहीं है, तुम यहां मुफ्त में रह रहे हो। एकदम से सारा सामान समेट कर दानीपुर चले जाने में हमें कोई बेवकूफी नजर न आई।

सारा सामान बंध चुका, तो हम ने नग गिने। सात नग थे। दो बड़े बक्से, तीन बड़ी टोकरियां, एक बरतनों तथा दीगर सामान का बोरा और बंधी हुई तीनों खाटों का एक लम्बा पुलिन्दा।

करतरा दस मील पीछे छूट गया था। दानीपुर अब तीस मील दूर था। हमारी बस धरधराती हुई सड़क पर आगे बढ़ रही थी। खिड़कियों से पीछे की ओर भाग रहे हरे-भरे खेत दिखाई पड़ रहे थे। सड़क ऊबड़-खाबड़ थी। गढ़ों में भरे पानी पर बस का चक्का पड़ता तो पानी छर्र से फट कर दोनों ओर उड़ जाता।

हम तीनों सब से पिछली सीट पर बैठे थे। मैं पीछे की छोटी-सी खिड़की में से झांक कर धूल के उस बादल को देख रही थी जो सड़क में गीला हिस्सा आने पर गायब हो जाता। तब मैं सड़क की लाल छाती पर बने चक्कों के निशान देखती, जो बड़ी तेजी से पीछे को सरकते जा रहे थे। गीली सड़क पर चक्कों की छररर आवाज होती।

हम तीनों चुप थे। हमारा सामान बस की छत पर रखा हुआ था और मुझे कभी-कभी भय लगता कि कहीं कोई नग नीचे न गिर पड़े। ऐसा लगते ही मैं खिड़की से झांक कर देख लेती।

सड़क के गढ़ों पर बस उछल रही थी। एक बार वह इतनी जोर से उछली कि मेरा सिर छत से जा टकराया। मैं झेंप मिटाने के लिए थोड़ा हंसी, फिर दर्द के कारण चुप हो गई। दाई ने ड्राइवर को गाली दी और मेरे माथे पर हाथ फेरा—"दाई वो (उई मां)! तोला तो गट्टा निकल आए हवै।"

मैं ने उंगलियों से अपने बालों के बीच में टटोला। सचमुच वहां छोटे आलू जितना एक गट्टा निकल आया था।

किन्दक्तर हंसने लगा। उस ने कहा—"पिछाड़ी मां झन (मत) बैठो। वहां ज्यादा उछल आही। बीच में आ जाओ।"

बीच की एक लम्बी सीट खाली थी। हम तीनों उठ कर

मुझे याद आया, बड़ी बहू ने मुझे किस तरह विदा दी थी। "जात हस हिरना ?"—एक सूखे हास्य के साथ उस ने बस इतना कहा था। "हहो।"—मैं बुदबुदाई थी। चढ़ती सुबह मैं विदा लेने के लिए वहां गई थी। दूसरी बहुओं ने भी विदा के समय जो कहा जाना चाहिए, कह दिया था।

बड़ी बहू ने बरफी का एक टुकड़ा मेरे मुंह में रखा और कहा—"फेर करतरा कब आवे ?"

"नहीं मालूम।"—मेरा गला भर आया था।

दाऊ के सामने मैं जान-बूझ कर न पड़ी। चुपचाप वापस लौट आई।

पड़ोसी की बैलगाड़ी में सारा सामान लद चुका था। दाई-ददा रवानगी से पहले गांव के सभी जान-पहचान वालों से मिल आए थे। ददा गाड़ी में बैल जोत रहे थे। बच्चों और डौकियों ने गाड़ी को घेर रखा था।

नहीं, दाई या ददा में से कोई भी आज कल्याण भवन नहीं गया था। विदा लेने की रस्म वे दोनों कल ही निवटा आए थे।

घड़ड़ की आवाज हुई थी बैलगाड़ी के चक्कों की, जिन के नीचे कुछ कच्चेपत्थर आ कर टूट गए थे। "चल राम, चल लछमन, चल त् त् त् !"—पूंछ उमेठते हुए उस पड़ोसी ने बैलों को ललकारा था। चूंकि गाड़ी उसी की थी, हमें बस-सिटेण्ड तक पहुंचाने का अधिकार भी उसी का था।

गाड़ी धक्के दे-दे कर चल रही थी। दाई-ददा सिकुड़-सिमट कर पास-पास बैठे थे और मैं बैलों के गले में बंधी घंटियों की आवाज सुन रही थी।

मैं ने हवेली की गाय-भैंसों को गांव के दूसरे मरियल जानवरों के साथ चरागाह जाते देखा। गांव का चरवाहा उन्हें लिए जा रहा था। उसे हमारी नौकरी छूटने का कोई गम नहीं था, क्योंकि उसे कुछ और जानवर चराने को मिल गए थे। वे जानवर हमारी गाड़ी के करीब से

निकले। मैं ने उन के जिस्मों को देखा और आंखें फेर लीं। क्या मालूम बेचारों को, इस गाड़ी में उन के कोई बैठे हैं।

मैं ने सोचा था, गांव के दस-पाच आदमी तो जरूर हमें विदा करने के लिए सिटेण्ड आएगे, लेकिन वहां उन के सिवा और कोई न था, जो खुद मुसाफिर थे। दुनिया का हर आदमी किस कदर केवल अपने में सिमटा हुआ है, मुझे इस का एहसास हुआ। मैं बहुत उदास हो गई।

मेरी कोई सहेली भी नही आई थी। उन मे से कुछ ने झोपड़े मे ही मुझ से विदा ले ली थी और कुछ ने इस की भी जरूरत नही समझी थी। दाई अकसर कहती रहती थी कि गाव के लोगों में अब वह प्यार और भोलापन नही रह गया है, जो पहले उन में आम बात थी और जिस के लिए वे अपने पर घमण्ड करते थे। शायद इस का कारण यह हो कि ज्यादातर लोग शहर आते-जाते रहते थे। गांव में जितना भी असली घी-दूध होता था, सारा शहर पहुंचा दिया जाता था, क्योंकि वहा उसे मिलावट और बनावटी सुगन्ध के साथ बेचा जा सकता था।

हम लोग भी तो गांव छोड़ कर किस्मत आजमाने दानीपुर जा रहे थे न!

बस की घरघराहट के साथ अब पिटरोल की बू भी शामिल हो गई। मैं ने बस के डराइवर की ओर देखा, जिस पर यह बू कोई असर नही कर रही थी। उस ने खाकी कपडे पहने हुए थे।

अचानक दाई की आंखों मे पानी भर आया। उस ने दोनों हाथो को टुड्डी के नीचे गर्दन पर दाब रखा था। ददा उठ कर किन्दक्तर के पास गए और कुछ फुसफुसाए। किन्दक्तर ने सिर हिलाया और पिछाड़ी से उठ कर बस की छत के पास लगी लोहे की दो समानान्तर छड़ें पकड़ता हुआ डराइवर तक पहुंचा। डराइवर ने बस रोक दी। दाई दरवाजे की ओर भागी। दरवाजा बन्द था। वह उसे खोलने लेकिन खोलना उसे नही आता था। किन्दक्तर ने झट दरवाजा और वह नीचे उतरी।

धूल का जो बादल पीछे-पीछे उड़ रहा था उसने आगे आ कर रुकी हुई बस को अपने में ढंक लिया।

दाई जमीन पर बैठ गई। मैं ने देखा, वह कै कर रही है। मुझे उस पर बड़ी दया आई। दो-तीन दिनों से वह बराबर बीमार थी और कै कर रही थी। जो भी खाती और पीती, बाहर निकल जाता। शायद बस की पिटरोल की बू ने उसे मतली ला दी थी।

लेकिन···

हां, सचमुच मुझे उस समय क्या मालूम था कि उस बीमारी का कोई गहरा मतलब भी है। इस का पता तो मुझे दानीपुर में चला, जब बाहर से लौट कर मैं दरवाजे पर ठिठक गई और दाई-ददा की धीमी बातचीत मेरे कान में पड़ी।

सड़क के किनारे ही पानी की एक बावड़ी थी। वहां दाई ने कुल्ले किए और अपने से ही शरमाती हुई-सी बस में घुसी।

घरघरा कर बस चल पड़ी।

शाम को हम दानीपुर पहुंचे। सिटैण्ड के पास ही धरमसाला थी, जहां एक कोठरी हमें मिल गई। चौकीदार ने जमीन पर लाठी ठकठकाते हुए कड़ी आवाज में कहा—"तीन दिन से जियादा ठहरने पर पैसा पड़ही, समझे के नहीं?"

"हां, हां, समझ गए गौंटिया (साहूकार)!"—ददा ने रुखाई से कहा। चौकीदार चला गया।

छह पैसों की मोमबत्ती ला कर हम ने कोठरी में जलाई क्योंकि अंधेरा घिर चुका था और ढीबरी हम करतरा में भूल आए थे। ढीबरी ···उजाला···

मैं बाहर निकली। धरमसाला ज्यादा बड़ी नहीं थी। बीच में एक चौकोर चबूतरा बना था। उस के चारों ओर चौखुटी फुलवारी-सी थी। चबूतरे पर कुछ लोग बैठे थे, जो गन्दे कपड़ों के कारण गरीब मालूम पड़ते थे। चौकीदार अपनी कोठरी के सामने की ढीलीढाली खाट पर

बैठा एक कुत्ते की पीठ थपथपा रहा था, जो मुंह खोल कर, जीभ बाहर लटकाए, हांफता हुआ उस के पास खड़ा दुम हिला रहा था। पास ही लकड़ी का कबूतरखाना था। उस का तार की जाली लगा ढक्कन बन्द था। भीतर कैद कबूतर चुपचाप दुबके हुए थे।

४० मील के बस के सफर ने हमें थका दिया था। बस की तेज घर-घराहट अभी भी मेरे कानों मे गूंज रही थी। दाई तो बहुत ही ज्यादा थकी हुई थी। एक चादर बिछा कर वह लेट गई।

बरसात के दिन विदा ले रहे थे। आकाश आज साफ था। चांद निखर आया था। रात घिरती गई, चांदनी खिलती गई। दूर कहीं लौडपीकर बज रहा था। मडई (मेले) मे मैंने लौडपीकर देखे थे। गाव के लोग उन्हें भोंपू कहते थे, लेकिन उन का असली नाम मैं किसी से पूछ कर जान गई थी। रिक्शे में बैठ कर शहरानी सनीमा वाले मड़ई आते और लौडपीकर पर फिलमी गाने बजाते। सनीमा का मुझे बड़ा शौक था। किसी वार-त्यौहार पर हम लोग किसी शहर को जाते, तो मैं जिद कर के सनीमा जरूर देखती। ददा की लाडली थी न मैं, सनीमा बुरी चीज है, ऐसा मानते हुए भी वह मुझे शौक पूरा करने देते।

अब तो हम लोग शहर ही आ गए थे, अब कभी भी सनीमा देखा जा सकता था। मुझे यह बात भली लगी। लौडपीकर की घुटी-घुटी आवाज मैं ने पकड़ने की कोशिश की लेकिन वह काफी दूर से आ रही थी और बहुत धुंधली थी।

रात भर मच्छरों की भुन-भुन ने हमें सोने न दिया। उचटी-उचटी नींद जब टूटी, तो दिन अभी नहीं निकला था। हम तीनों कोठरी खोल कर बाहर आए और दातून करने लगे।

हमें यह नहीं मालूम था कि कुल्ला करने के लिए पानी कहां मिलेगा। चौकीदार की कोठरी भीतर से बन्द थी। शायद वह सो रहा था।

"मैं अभी तलाश कर के आत हौं।"—कह कर ददा घ

वाहर निकले। थोड़ी देर में वह वापस लौटे। उन्होंने वताया कि पास ही एक नल लगा हुआ है।

शहर में चोरी होते देर नहीं लगती, यह हमें अच्छी तरह मालूम था। हम ने कोठरी में ताला लगाया और कुल्ला करने चल पड़े।

मैं ने नल की टेंट खोली, तो पानी न निकला। मैं ने ददा की ओर देखा—"ददा, एमां तो पानी नहीं हवै।"

"अभी आही।"—उन्होंने कहा।

दातून को वीच से चीर कर हम जीभ साफ कर चुके थे। करतरा में कभी हम ने इस तरह पानी का इन्तजार नहीं किया था।

थोड़ी देर में पूरव का आकाश सिंदूरी हो उठा। काफी रोशनी फैली, हालांकि सूरज अभी नहीं निकला था। फिर उस लाल गोले की ऊपरी कोर क्षितिज से ऊंचे उठ कर धरती की ओर झांकने लगी। आस-पास के मकानों की छतों पर सोना फैला।

एक डौकी को मैं ने अपनी ओर आते देखा। वह कमर पर एक गुण्डी (डोल) दावे हुए थी। पास आ कर उस ने हम तीनों को घूरा, फिर गुण्डी को जमीन पर रख कर मुझ से पूछा—"ऐ टुरी, कावर खड़े हस ?" उस की आवाज कर्कश थी।

क्या यहां के लोगों को मीठी आवाज में वोलना नहीं आता ? कल धरमसाला के चौकीदार ने भी इसी तरह हम से वात की थी। मुझे बुरा लगा। 'कुल्ला करे वर।"—मैं ने रुखाई से कहा।

उस ने मुझे यों घूरा, मानो कह रही हो, हुंः ! फिर मेरे पीछे गुण्डी रख कर वापस चली गई।

कुछ देर वाद दो डौकियां और आईं। उन्होंने भी हमें घूरा और अपनी-अपनी वाल्टियां, गुण्डियां एक के पीछे एक, कतार में रख कर वापस चली गईं।

हमें वौखलाहट हो रही थी। कुल्ले के लिए पानी के दो घूंट भी यहां इतने महंगे हैं ?

सूरज थोड़ा ऊपर आया, तब तक पानी भरने के छोटे-बड़े बरतनों की लम्बी लैन लग चुकी थी। अभी तक नल सूखा ही था। कुछ डोकियां, जिन के चेहरे पता नहीं क्यों मुझे अपरिचित से, दूर-दूर से लगे, अपने-अपने बरतनों के पास आ खड़ी हुई थीं, कुछ अभी नहीं आई थीं। उन के बरतन लैन में लावारिस रखे थे।

लैन में सब से आगे हम लोग खड़े थे। धूप हमें चिढ़ा रही थी। आकाश में कौए, गौरइयां और जंगली मैनाएं उड़ रही थीं। उन का शोर मुझे पसन्द न आया।

मैं ने एक डोकी से पूछा—"पानी कब आही?"

"कच्छू ठिकाना नहीं हवै। पम्प में गड़बड़ी हो गे हवै। कभी जल्दी आ जायँ, कभी देर से।"

सहसा नल के खुले मुंह में से घरघराहट की आवाज निकली, फिर एक छोटी सीटी और फिर पानी की धार बंध गई। हम तीनों ने जल्दी-जल्दी कुल्ला किया और धरमसाला की ओर लौट पड़े।

मेरी नजर उन झोपड़ों पर पड़ी, जो करतरा के झोपड़ों की तरह नहीं थे। उन की छतें नीची नहीं थीं, उन में से शायद ही कोई साफ-सुथरा था, न उन की छतों पर हरी-भरी बेलें चढ़ी थीं। शहर में कई बार आ चुकी थी, लेकिन पहले शहर मुझे आकर्षक लगा था। आज वह बिल्कुल बेगाना, अपरिचित और उदास लग रहा था। करतरा में केवल एक हवेली थी, यहां कई हवेलियां मैं ने पास-पास खड़ी देखीं, जिन के बाशिन्दे झकाझक कपड़े पहने हुए थे।

एक घूरे पर मैं ने दो सुअर देखे। सुअर मुझे प्यारे लगते हों, ऐसी बात नहीं, लेकिन गाव में ढेर सारे सुअर थे और यहा केवल दो दिखाई पड़ रहे थे। मुझे यह अच्छा न लगा।

धरमसाला के पास एक छोटा-सा मन्दिर था। उसे देख कर मुझे बाबा सिद्धनाथ का मन्दिर याद आया जो इस की तरह तीन ओर मकानों और एक ओर से सड़क से घिरा हुआ नहीं था। न वह

छोटा ही था। उस का दरवाजा ऊंचा था। उस में घुसते समय मैं ने कभी किसी को झुकते नहीं देखा था जब कि इस के छोटे दरवाजे पर हर किसी की कमर झुकती थी।

मैं ने पूछा—"क्यों ददा, मानता का का होही ?"

ददा सोच में पड़ गए। सचमुच यह एक समस्या थी। करतरा यहां से ४० मील दूर था। मानता के अनुसार ददा हर शनिवार को करतरा से बाबा सिद्धनाथ के मन्दिर तक पैदल जाते थे और चींटियों को आटा डालते थे। अब हम दानीपुर आ गए थे और हमारे पास इतना धन नहीं था कि हर शनिवार को करतरा जा कर चींटियों को आटा डाला जाए।

ददा ने कहा—"बात चींटी को आटा डाले के है ना, हम वो काम हियां भी कर सकथें। चींटी कोनू (किसी भी) देस की हो, है तो भगवान के घर की चींटी।"

शहर में आते ही ददा को अपनी मानता इस तरह बदलनी पड़ी थी—मानता, जिस से मैं पैदा हुई थी। मैं, उन की लाड़ली।

ददा जब मुरारी दाऊ के पास जाने की तैयारियां करने लगे तो मैं ने जिद की, मैं भी साथ चलूंगी। ददा मुझे साथ ले जाना नहीं चाहते थे। वह चाहते थे, मैं दाई के पास बैठी रहूं, क्योंकि वह बीमार थी। लेकिन दाई की आंखों ने मेरी हौंस पहचानी। उस ने कहा कि अब उस की तबीयत काफी ठीक है और मुझे साथ ले जाया जा सकता है।

मैं ने नई साड़ी, पोलका और जूतियां पहनीं। जूतियां, जिन का चमड़े का तल्ला पतला था और जिन की सैंडिल जैसी पट्टियां मेरे पूरे पंजे पर जाल-सा बुन रही थीं।

रास्ते में वही नल पड़ा, जहां डौकियों में बुरी तरह झगड़ा हो रहा था। किसी डौकी ने अपनी गुण्डी लैन में आगे करने की कोशिश की थी। उस की चोरी पकड़ ली गई थी। करतरा में डौकियां झगड़ती जरूर थीं, लेकिन उन में इतना गुस्सा और जनून नहीं होता था।

करतरा में केवल एक रेडियो था, दाऊ का। यहां कई मकानों में से रेडियो के गाने आ रहे थे। इस से मैं खुश न हो सकी, क्योंकि मुझे याद आ गया, मैं करतरा में नहीं हूं। मैं चाहती थी, चाहे मैं दुनिया के किसी भी देश में जाऊं, लेकिन मुझे ऐसा लगता रहे, मानो मैं करतरा में ही हूं।

लेकिन यहां पक्की सड़कें थी, बड़ी-बड़ी दुकानें थी, तांगे थे, रिक्शे थे, मोटरें थीं, यह सब कुछ था, जो करतरा में नहीं था। यह अजीब बात थी कि करतरा में कई बार मैं सोचा करती थी कि काश ! यहां पक्की सड़कें होतीं, बड़ी-बड़ी दुकानें और तांगे-रिक्शे होते, मोटरें होतीं। और जब वे सब चीजें सामने आ गई थीं, मुझे बुरा लग रहा था। पहले जब भी मैं शहर आई थी, इन चीजों ने मुझे खुशी से भर दिया था, लेकिन तब मैं सैर-सपाटे के लिए शहर आई थी। तब मैं ने सुबह-सुबह कुल्ले के पानी के लिए नल के पास लैन नहीं लगाई थी, नल खुलने का इन्तजार नहीं किया था। अब मैं शहर आई थी रहने के लिए। मानो शहर मैं पहली बार देख रही थी।

१९

कल्याण भवन के साथ मुरारी दाऊ की हवेली की तुलना की जाती तो वह ओछी ही निकलती, लेकिन वह साफ-सुथरी थी। उस की दीवारों पर पीलापन नहीं था।

नौकर जैसे मालूम पड़ते एक आदमी से ददा ने पूछा—"दाऊ अन्दर हवै ?"

उस ने हमें ऊपर से नीचे तक देखा, फिर पूछा—"का काम हवै ?"

"मिलना हवै।"

"क्यों ?"

इस क्यों का सीधा जवाब ददा के पास नहीं था। किसी तरह समझाया कि जरूरी काम से मिलना है।

"वइठो।"—उस ने कहा और आंगन में वैठने का इशारा कर भीतर चला गया।

धड़कते दिल से मैं दाऊ के वाहर निकलने का इन्तजार करती रही। क्या वह मुझे पहचान लेंगे ?

थोड़ी देर में वह वाहर आए। उन के चेहरे पर वही चिरपरिचित मुसकान थी। सफेद झकझक पोशाक। पैरों में रवर की सलीपरें।

"अरे, तुम मन (लोग) ?"—उन्होंने हमें देखते ही पहचान लिया।

मैं मुसकरा कर उठ खड़ी हुई। ददा भी उठे।

"कईसे आए ?"—कुर्सी पर वैठते हुए उन्होंने कहा।

ददा ने थोड़े में सव सुना दिया।

उन का चेहरा गम्भीर हो गया। "सामान कहां हवै ?"

"धरमसाला में।"

"कौन-सी धरमसाला में ?"

"सिटेण्ड के पास वाली।"

मैं उन के चेहरे की रेखाएं पकड़ रही थी।

सहसा वह मुसकरा उठे—"मोर वालो के जाने से तुम लोगों की भी नौकरी चली गई? खैर... कोई बात नहीं।"

उन के यहां से लौटते समय हमें बहुत हल्का-हल्का महसूस हुआ। दाई को जब बताया गया कि दाऊ कोई मकान ठीक कर देंगे तो वह भी खुश हो उठी।

अब समस्या थी मकान की। दो दिन तक हम कोई मकान ठीक न कर पाए, तो चौकीदार लाठी टकटकाता हुआ आ खड़ा हुआ। बोला—"एक दिन के आठ आना के हिसाब से पैसा चाहिए।"

दवा ने उसे मनाने की कोशिश की कि एक-दो दिन और ठहर जाने दो, लेकिन वह न माना। उस का चेहरा उसी तरह कठोर बना रहा। अन्त में हमें उसे उस दिन के आठ आने भर कर देने ही पड़े।

"रसीद?"—दवा ने पूछा।

"कैसी रसीद?"—कह कर वह चलता बना। दवा ने पीछे से आ

एक भली डोकी थी। वह दो साल से विधवा थी और दूसरा डोका बनाने की उसे चाह नहीं थी। उस ने हमें बताया कि उसे हर माह पेशगी किराया मिल जाना चाहिए। ददा ने उस से वादा किया कि हम उसे कोई तकलीफ नहीं होने देंगे।

तो एक अनजान शहर में हमें रहने का ठौर मिल ही गया आखिर! उसी दिन शाम को हम धरमसाला से सामान उठा लाए।

तीसरे दिन मैं पासपड़ोस की नई बनी सहेलियों से बातचीत कर के वापस लौटी तो दरवाजे पर ठिठक गई।

भीतर से मैं ने दाई को कहते सुना—"इस में मोर का (मेरा क्या) कसूर?"

"हां कसूर तो तोर नहीं हवै, लेकिन···" —यह ददा की आवाज थी, कुछ रूखी-सी, कुछ उलझी-सी।

"टुरा हो ही (लड़का होगा) या टुरी?" दाई की आवाज। उत्सुक, शर्मीली।

मैं चौंकी। क्या दाई···

फिर मुझे सब समझ में आ गया। जब काने चौधरी मेरी शादी की बात चला रहे थे, सहेलियों में से ही एक की शादीशुदा बहन ने मुझ से मजाक किया था—"हिरना, शादी के थोड़कुन दिन बाद तोला कै होही।"

मैं समझी नहीं थी और जब उस ने समझाया था तो मैं शर्म से लाल हो गई थी।

मुझे दाई का पिछले कुछ दिनों से खूब कै करना याद आया।

"भगवान के लीला देखो?"—ददा कह रहे थे—"हम तो समझे बईठे थे हिरना के कोनू (कोई) भाई-बहनी नहीं हो ही, लेकिन पन्दरा बरस बाद···वा रे भगवान!"

मैं ने भीतर जाने से पहले अपनी जूतियों से थोड़ी खड़खड़ाहट की।

ददा के पास अपने बचाए और दाऊ दुखमोचनसिंह के दिए रुपयों में से अब तीन सौ बचे थे। पचास रुपए करतरा से आने, नया मकान किराए पर लेने तथा दूसरे खर्चों में चले गए थे।

एक रात मैं आखें मूद कर जाग रही थी और दाई-ददा ने समझा कि मैं सो गई हू। उन्होंने वे बातें शुरू कर दी, जिन्हे वे मेरे सामने नही कर पाते थे। वे धीमे-धीमे बोल रहे थे, लेकिन रात के सन्नाटे में सब साफ-साफ सुनाई पड़ रहा था

"कस (क्यो) रामकली···"—ददा ने दाई को नाम लेकर पुकारा। मेरे सामने वह उसे 'हिरना की दाई' कह कर बुलाते थे।

"हूं···"—दाई की आवाज, छोटी-सी, हल्की।

"तोर सौरी मे पचास रुपया तो लग जाही ?"

खामोशी।

"कुल मिला के ओतेक (उतना) खर्चा तो जरूर पड़ही।"—ददा हिसाब लगा रहे थे—"बच गे ढाई सौ। ढाई सौ में कौन-सा धन्धा शुरू किया जाए ?"

ददा ने किसी की नौकरी न करने की ठान ली थी। नौकरी में बचत नही होती थी। धन्धे में ढंग से तथा मेहनत से काम करने पर बहुत फायदा हो सकता था। हमारी कोठरी के पास एक और कोठरी थी, जिस का मालिक एक सिन्धी था। उस का नाम था भूरामल। इस मुहल्ले में उस की ऐसी लगभग बीस कोठरियां किराए पर उठी हुई थी। उस के बारे में कहा जाता था कि वह पाकिस्तान से केवल लंगोट और लोटा ले कर आया था। यहा आ कर उस ने नौकरी नही की, धन्धा शुरू किया। पहले मूगफलियां बेची, फिर रेवड़ियां। इस

बेसन के लड्डू भी बेचने लगा। उस की बीवी-बच्चे सब पाकिस्तान में मारे जा चुके थे। निपट अकेला था। कभी यहां सो रहता, कभी वहां। यों करते-करते उस ने एक छोटी-सी दुकान खोल ली। पास ही एक स्कूल था। बच्चे आते और पिपरमेण्ट, चाकलेट वगैरह खरीदते। होते-होते उस के पास इतना पैसा हो गया कि उस ने एक कोठरी खरीदी, फिर दूसरी, फिर तीसरी। पैसा हुआ तो शादी भी रचा ली। शादी किसी सिन्धन से न कर उस ने की एक नई-नवेली छत्तीसगढ़िन कुंवारी के साथ। अब उस के चार बच्चे थे और वह आराम से किराया खाता था। उस ने बीड़ी का एक कारखाना खोल रखा था। मुरारी दाऊ से उस का अच्छा परिचय था। उस दिन ददा दाऊ से मिलने गए तो उन्होंने कहा—"बीड़ी बना लेबे?"

ददा ने हां में सिर हिलाया। बचपन में शौक की खातिर उन्होंने बीड़ी बनाना सीखा था।

"बीड़ी बनाए के नौकरी करबै?" उन की आंखें ददा की ओर उठीं।

मैं ददा के साथ थी। ददा मेरी ओर देखने लगे मानो मैं उन्हें सलाह दे सकती होऊं।

फिर मैं ने ददा को सिर हिला-हिला कर हां करते देखा। वह सिर हारी हुई मूंछों के साथ यों हिल रहा था जैसे अभी गरदन से झूल कर लटक जाएगा। ददा यह काम लाचारी से ही स्वीकार कर रहे थे।

वह सुबह आठ-नौ बजे जाते, शाम को लौटते। दिन-भर वह बीड़ियां बनाते। शुरू में तो ज्यादा पैसे नहीं मिले, क्योंकि और कारीगरों की तरह ददा के हाथ जल्दी-जल्दी नहीं चलते थे लेकिन बाद में रोज के दो-ढाई रुपए मिलने लगे। करतरा का कोई आदमी अगर जान जाए कि रामदरस बीड़ी बनाता है तो कितना हंसे—यह विचार ददा को खाए जाता।

मेरे घर में, मुझ गरीब के घर में अपनी जिन्दगी का सौदा करने

सड़क पर आ कर पानी-पूड़ी लो, पानी-पूड़ी ! गोल-गप्पे ! खट्टे ! मजेदार ! मिसालेदार !' की पुकार लगाता, वह अपने को रोक न पाती। दरवाजा खोल कर वह वाहर निकलती और काफी पैसे खर्च कर ही देती। यदि मैं साथ-साथ वाहर निकल आती तो वह मेरे लिए भी पानी-पूरी खरीदती, लेकिन उस के चेहरे से साफ झलक जाता कि उसे मेरे लिए खर्च करना अखर रहा है। दाई दिन-व-दिन स्वार्थी होती जा रही थी। पहले वह वात-वात में यह जताया करती थी कि मैं उसे संसार में सब से ज्यादा प्यारी हूं, अव प्यार की वह गरमी गायव हो गई थी। कुछ ही दिनों में मुझे पानी-पूड़ियों से नफरत हो गई।

एक वार मैं ने देख लिया कि पानी-पूड़ी वाले के आने के समय छप्पर की परछाई कहां पड़ती है। दाई मुझ से विना पूछे कि मुझे चाहिए या नहीं, अपने लिए पानी-पूड़ियां खरीदने चली गई, तो पीछे से मैं ने छप्पर की परछाई की कोर पर जमीन में छोटा-सा गड्ढा कर लिया। दूसरे दिन परछाई उस निशान तक पहुंचने वाली थी तो मैं एक सहेली के यहां चली गई। फिर मैं रोज पानी-पूरी वाले के आने का समय होते ही किसी-न-किसी वहाने घर से गायव हो जाती। दाई मेरा वदला हुआ मन समझ गई। वेशर्मी के साथ वह चुप्पी साधे रही। मेरे जाने के वाद वह वेफिक्र हो कर अपनी खटाई की प्यास वुझाती।

ददा जिस दिन कुछ ज्यादा कमाते, दाई के लिए केले, अमरूद और कभी-कभार महंगे अंगूर तक खरीद लाते जिस में से मुझे कुछ न मिलता। ददा केवल कहने के लिए कहते कि ले हिरना, केले खा, अंगूर खा। मैं इन्कार कर जाती। वह खुद कभी फल नहीं चखते थे। फल केवल दाई के लिए लाए जाते हैं—मैं इतना भी न समझूं, इतनी वेवकूफ नहीं थी।

दाई का पेट उभरता जा रहा था। मेरे सामने पड़ते ही वह धोती को इस तरह सरका या फुला लेती कि उभार छिप जाए। वाद में उस ने यह झिझक छोड़ दी। जो वात छिपाई नहीं जा सकती थी और जिसे छिपाने से फायदा भी नहीं था, उस की कोशिश करना हंसी की ही वात थी।

ददा बदल रहे थे—हर दिन बदल रहे थे। काफी तेजी से। उन के चेहरे से भोलापन गायब हो रहा था। वह एक खास अदा से बीड़ियां पीने लगे थे। एक दिन मैं ने उन्हें धुएं के छल्ले बनाते देखा। यह नई बात वह शहर आ कर सीखे थे।

दाई का वह बेहद ध्यान रखते। जितना भी रोज की कमाई में से बचता, सब दाई की फरमाइशें पूरी करने मे खत्म हो जाता। दाई केवल नाम के लिए खाती। जो खाती, अकसर कै मे निकल जाता। उस के लिए मेरे मन मे सहानुभूति और दया थी। वह बहुत दुबली हो गई थी। करतरा में रोज गोरस मिलता था, यहां कभी-कभार, केवल दाई के लिए, एकाध पाव दूध खरीद लिया जाता। दूध भी एकदम पतला।

सनीमा में औरतों की 'छोटी टिकस' पच्चीस पैसे मे आती थी। इतने पैसे बड़ी आसानी से मुझे मिल सकते थे, बशर्ते ददा चाहते।

पानी-पूड़ी वाले के कारण मुझे रोज बाहर जाना पड़ता था जिस से आसपास की जिन लड़कियों से मेरी केवल मुहदेखी थी, अपने-आप मैं उन के ज्यादा करीब आ गई। उन मे सुशीला मुझे सब मे ज्यादा भा गई। उस के चेहरे से खास तरह की शान टपकती थी। वह हमेशा गर्दन तान कर अकड़ती हुई चलती थी। उस के हंसने का अपना ढंग था जिस से पता चलता था कि वह कितनी लापरवाह है। वह अपने दाई-ददा का रौब नहीं मानती थी और काफी हद तक उन्हें बेवकूफ समझती थी। कई बार अकेले में मैं उस के बारे मे सोचती तो बस सोचती ही रह जाती। ऐसा लगता कि अगर कभी मुझ पर मुसीबत का पहाड़ टूट पड़े तो मुझे केवल एक से सहारा मिलेगा और वह है सुशीला।

"क्यों हिरा, सनीमा चलबे ?"—एक दिन उस ने पूछा, तो मैं उदास हो गई। मेरे पास टिकस के पैसे कहां थे ?

"क्यों, उदास काबर हो गे ?"—सुशीला ने पूछा।

मैं अपने को रोक न सकी। कई दिनों की भड़ास मन में भरी थी। विस्फोट हो गया। दाई-ददा को खूब खरी-खोटी सुनाई और कहा कि वे

अपनी बेटी को, लाड़ली बेटी को कुछ पैसे भी नहीं दे सकते।

सुसीला मुसकराई—"मोर दाई घलो (भी) एक पईसा नहीं देथे।"

"फेर तें सनीमा कईसे जात हस ?" मैं ने आश्चर्य से उस की ओर देखा। सुसीला को मैं अकसर सनीमा जाते देखती थी। वह अकेली ही जाया करती और वापस लौट कर मुझे सनीमा की कहानी सुनाती। उस का कहानी सुनाने का ढंग कितना अच्छा था !

हालांकि आसपास सुनने वाला कोई नहीं था, फिर भी उस ने फुस-फुसा कर कहा—"मैं तो दाई से चोरी-चोरी वजार में काम करथों और पईसे कमा कर सनीमा देखथों।"

मुझे राज मिल गया। मुझ में उत्साह भर गया। मैं भी काम करूंगी और सनीमा देखूंगी। चौके का काम निबटाने के बाद बहुत-सा समय मेरे पास बच जाता था। उस समय में मैं कमाई कर सकती थी। उन पैसों पर फिर केवल मेरा हक होगा। मैं जैसे चाहूं, खर्च करूं।

मैं सुसीला से मिन्नतें करने लगी कि मुझे भी वह कहीं काम दिला दे। मैं ने पहली बार किसी की मिन्नतें की थीं और मैं ने देखा, यह कला मुझे आती है।

"चल, आज तो मैं तोला (तुझे) अपने पईसों से सनीमा दिखाथों।" —सुसीला ने मेरा हाथ पकड़ लिया—"अगली बार तू मोला दिखा देवे।"

मैं उस की बांहों की गोलाइयों को देखती रह गई, जिन पर नीले-नीले गोदने बने थे और जो मेरी ओर बढ़ी हुई कह रही थीं—"चल ! सनीमा !

जादू हो गया हो यों मैं उस के साथ चल पड़ी।

दोपहर ढल रही थी। रात वाला खेल देखने पर तो चोरी पकड़ी जाती। सुसीला हमेशा केवल मीटनी वाला खेल देखती थी। आज भी हम मीटनी ही देखने जा रही थीं। सुसीला ने अपनी दाई से कहा—"हम एक संगवारिन के हियां जात हैं।" मैं ने अपनी दाई से कोई बहाना

करना जरूरी न समझा।

सनीमा-हौस में लौडपीकर बज रहा था। दूर से उस की आवाज मैं ने सुनी। मैं खुश हो गई। मेरे कदमों में तेजी आ गई। मेरा उत्साह देख कर सुसीला हंसी।

दानीपुर के दोनों सनीमा-हौस बहुत पुराने बने हुए थे। कहा जाता था कि जब बोलने वाली फिल्म नहीं थी, तभी से मुक्की फिलमें वहां आती थीं।

मैं ने दूर से सनीमा का बोरड देखा, जो चटख लाल-पीले रंग से रंगा हुआ था। उस में क्या लिखा था, मैं न जान सकी।

जब से मुझे दातून की मार पड़ी थी, स्कूल जाने की बात मेरे दिमाग से उतर गई थी। कुछ दिनों के बाद एक बार फिर जिद करने का मेरा जी हुआ था लेकिन मैं उसे दबा गई थी। फिर तो घटनाओं का कुछ ऐसा सिलसिला बंधा कि मैं स्कूल को बिलकुल भूल गई।

सुसीला भी कभी स्कूल नहीं गई थी। वह मेरे जितनी सुन्दर नहीं थी। उस का माथा जरूरत-से-ज्यादा चौड़ा और होंठ बहुत छोटे थे, लेकिन मैं ने कभी उस के मुंह से ऐसी बात न सुनी थी जिस से जाहिर हो कि उसे अपने अनपढ़ होने का जरा भी गम है।

थी वह मिजाज की शौकीन। नाखून में पालिस लगाती और पान खाती। आज पहली बार उस ने मुझे बताया था कि अपना सारा खर्च वह खुद कमाती थी। मुझे जैसे नई राह, नई रोशनी मिल रही थी उस की बातों से। सनीमा के उस बोरड ने मुझे स्कूल के बोरड की याद दिला दी लेकिन मैं ने पाया कि अब पढ़ने-लिखने में मुझे कोई दिलचस्पी नहीं है। सब से बड़ी चीज है पैसा। ददा ने करतरा क्यों छोड़ा? पैसों के लिए ही तो। नाराजगी से वह रोज भूरामल के बीड़ी कारखाने को जाते हैं। क्यों?

यदि मैं भी सुसीला की तरह पैसे कमाने लग जाऊं, तो?

मुझे गुदगुदी होने लगी। एक चित्र मेरी कल्पना में भरा। ददा मुझ

से पूछ रहे हैं, यह नई धोती तुझे किस ने दी ? मैं हंस कर कहती हूं, मैं ने खरीदी है। वह चकित हो कर मुझे घूरते हैं, मैं खिलखिलाती हूं। अब वह गाली देते हैं, मैं मुंह बिचका कर बाहर चली जाती हूं। इस चित्र ने एक पल के लिए मुझे चौंकाया भी, सहमाया भी, लेकिन बस, केवल एक पल के लिए। ददा अब बिल्कुल और ही तरह से मेरे साथ पेश आते थे। दाई अब वह नहीं थी, जो वह करतरा में थी। मेरे मन ने विद्रोह किया—फिर मैं भी वह क्यों रहूं जो मैं करतरा में थी ?

सुसीला की आवाज मेरे कान में पड़ी—"सती नागकन्या वाला खेल हवै !"

सनीमा-हौस में टिकस-बारी के सामने बड़ी भीड़ थी। लोग एक-दूसरे पर कूद-कूद पड़ रहे थे। टिकस-बारी भीड़ में गायब हो गई थी। लोग चिल्ला रहे थे, भद्दी गालियां बक रहे थे। अश्लील शब्दों में वे ऊट-पटांग धमकियां दे रहे थे। जो लोग टिकस खरीद चुकते, उन्हें भीड़ में से बाहर निकलना भी मुश्किल हो रहा था।

हम लोग डौकियों के गेट पर खडी हो गईं। गेट पर जो डौकी खड़ी थी, उस ने हमारी ओर मुसकान फेंक कर कहा—"जा जा टिकस ले ले, वरना टापती रह जावै।"

उस की बात से सुसीला जोश में आ गई। डौकियों की टिकस-बारी अलग थी। वहां डौकियां अपनी चटख धोतियों और पोलकों के साथ चिल्लपों मचाती हुई एक-दूसरी पर गिर रही थीं। मैं ने एक डौकी को देखा, जिस की धोती की लांग भीड़ में खुल गई थी। वह भीड़ से बाहर निकल कर पहलवान की तरह लांग कस रही थी और शराबियों की तरह गालियां दे रही थी—"रोगही ! भड़वी ! मुंहजरी ! बैरी !" लांग कस कर वह फिर से भीड़ में घुस पड़ी।

सुसीला धक्कामुक्की करती, गालियां बकती, जंगली मुर्गी की तरह शोर मचाती टिकस-बारी तक पहुंच गई और टिकस खरीद कर वापस भी आ गई। गेट पर खड़ी उस डौकी ने शान के दिखावे के साथ टिकस

के दो टुकड़े किए, एक अपने पास रखा, एक हमें वापस कर दिया। हम भीतर घुसीं। भीतर खचाखच डोकिया भरी थी। कुछ ने गले मे चादी के कड़े पहन रखे थे। कुछ पान खाए हुए थीं। कुछ अपने बच्चों को छातियां दे कर उन्हें चुप कराने की कोशिश मे थी। तेज हो-हल्ले से हवा काप रही थी।

हमें जहा जगह मिली, वहा से डोकियों के बैठने की जगह डोकों से अलग करने के लिए बनाई गई चार फीट ऊची दीवार गुजरती थी। दीवार के ऊपर एक लड़का खड़ा था। दीवार से दो फीट ऊचा एक काला परदा लगा था जिस से डोके डोकियो को न देख सकें।

थोडी देर में बत्तिया गुल हो गई। दरवाजे बन्द करके उन पर परदे खीच दिए गए। दीवार पर दौड लगा कर लड़के ने काला परदा हटाया, जिस से सामने का सफेद परदा हमे दिखाई पड़ने लगा। वहा एक लड़की की तस्वीर बनी हुई थी, जो किसी साबुन की टिकिया की ओर मुसकराती हुई इशारा कर रही थी। अचानक वह एक ओर सरक गई और उस की जगह पर लाल पान छाप बीडी का विज्ञापन आ गया।

फिर खेल शुरू हुआ। सुमीला ने एक टोपीधारी की ओर इशारा कर के बताया—"वो हमारे परधान मतरी हवें। नेरूजी।"

मैं किसी नेरू को नही जानती थी। मुझे तो सती नागकन्या वाले खेल का इन्तजार था। नेरू वाला खेल, जिस का नाम सुसीला ने न्यूसरील बताया, मुझे पसन्द नही था। पता नही क्यों उसे हर खेल के पहले बताए जाने का रिवाज था।

असली खेल कब शुरू हुआ, कब इण्टरमेल हुआ, कब खतम हुआ, मुझे कुछ भी पता न चला। मैं जादू के देश में आ गई थी। मैं हवा मे उड़ रही थी। नागदेव के परदे पर आते ही मैं ने हर बार तालिया बजाई थी और ची-चीऊ करती लकड़ी की बेंच पर उछली थी।

भक से बत्तिया जली। सुमीला उठते हुए बोली—"चलो, सो खतम।"

और डौकियां भी अपने कपड़ों और बच्चों को सम्हालती हुई उठ रही थीं। सती नागकन्या को जो दुख मिला था, उस से कई च-च कर रही थीं और कई की तो सचमुच आंखें भर आई थीं। "बिचारी सती!" —वे बुदबुदा रही थीं—"लेकिन बहनी, पाप का भंडाफोर जरूर होवै। भगवान के हियां देर हवै, अन्धेर नहीं।"

रात को लेटे-लेटे कोठरी की छत की ओर घूरते हुए मैं क्या सोच रही थी कि मैं इन कुछ ही दिनों में कितनी बदल गई हूं। दानीपुर मुझे अपने ढांचे में ढाल रहा था जिस का मुझे कोई दुख नहीं हुआ। सुसीला मुझे काम दिलाने वाली थी। मैं अपने लिए आप कमाने वाली थी, मैं नई जिन्दगी शुरू कर रही थी।

दो दिनों के बाद मुझे 'सती नागकन्या' वाला खेल फिर से देखने को मिला। दाई ने सनीमा देखने की जिद की। ददा उस की बात टाल नहीं सकते थे। हम रात वाला सो देखने गए। दिन में तो जा नहीं सकते थे, क्योंकि भूरामल के यहां से ददा को शाम से पहले छुट्टी नहीं मिलती थी। दाई-ददा को क्या मालूम कि यह खेल मैं पहले ही देख चुकी हूं! मैं ने भी ऐसा दिखावा किया कि मैं ने यह खेल नहीं देखा है। मैं मक्कार होती जा रही थी। दूसरी बार देखने में उतना मजा न आया जितना सुसीला के साथ पहली बार आया था लेकिन आया जरूर।

रात के १० बजे जब हम अपनी कोठरी के पास पहुंचे, हम ने देखा, आंगन में पड़ी खाट सूनी है। दाई हक्की-बक्की रह गई।

सनीमा जाने के उत्साह में हम लोगों ने खाट कोठरी के भीतर रखने की भी तकलीफ न उठाई थी। खाट पर एक कम्बल रखा है, इस की ओर भी हमारा ध्यान न गया था। खुले माल को कौन छोड़ता! किसी ने कम्बल चुरा लिया था।

दाई का चेहरा रुआंसा हो गया।

हम लोगों के पास कुल तीन ही कम्बल थे। हरेक के हिस्से में एक-एक आता था। सर्दी की अभी शुरुआत थी लेकिन आगे वह जोर पकड़ने

वाली थी। दो कम्वलों में तीन का काम कैसे चलेगा ?

दाई-ददा पास-पड़ोस में घूम-पूछ आए लेकिन किसी को भी इस बारे में कुछ नहीं मालूम था। यह कम-से-कम तीस रुपयों का नुकसान था। ये रुपए कैसे पूरे होंगे ? क्या उन तीन सौ रुपयों में से तीस निकालने पड़ेंगे ? ददा की कमाई तो रोज की रोज फुक जाती है।

रात को गुवार का एक और वादल मेरे मन में घिरा। दो कम्वल थे, एक दाई ने ओढा, एक ददा ने ओढ़ लिया, मैं बिना कम्वल के ही खाट पर लेट रही। ठंड ज्यादा नहीं थी। मैं ने अपनी धोती को ही फैला कर ओढ़ लिया था। काम मजे में चल सकता था, लेकिन ददा ने कम्वल खुद ओढा और मुझे न दिया, इस में कितना ओछापन था !

वाद में ददा को भी अपनी भूल का एहसास हुआ, क्योंकि एक बार उठ कर वह मेरे पास आए और पूछने लगे—"हिरनू, ठड तो नहीं लगत है ? ले, ए कम्वल ओढ़ ले।" वह अपना कम्वल मुझ पर डाल रहे थे।

मैं ने तीते स्वर में कहा—"नहीं ददा, मोर काम चल जाही। कम्वल तैं ओढ ले।"

व्यंग्य वह समझ गए और झेंपे। "कईसी वात करत हस, नोनी !" —कहते हुए उन्होंने जवर्दस्ती कम्वल ओढाया।

मैं ने होंठ काटे। कम्वल से मुझे जरा भी गर्मी न मिल सकी।

२१

मैं सुसीला के साथ जिस दुकान के सामने जा कर खड़ी थी उस के पास एक नाली थी जिस में काला पानी वह रहा था।

"मैं यहीं काम करथौं।" सुसीला ने कहा। उस ने मेरे लिए भी यहीं काम निकलवा रखा था। हटरी वाजार के एक अकेले कोने में यह दुकान थी। मैं ने भीतर नजर डाली। एक ओर भुनी मूंगफलियों का ढेर लगा था। पास ही एक वोरे में पीले चने भरे हुए थे जिन्हें फोड़ना अभी वाकी था। दीवारें वेहद पीली और जगह-जगह से काले धव्वों वाली थीं।

"ए ही है मोर संगवारिन !" —उस ने मेरी ओर इशारा करते हुए उस भड़भूंजे की ओर देखा जो दुकान का मालिक मालूम पड़ता था। उस के कान में चांदी के पतले छल्ले पड़े हुए थे। मैं उस की ओर देख कर हल्के से मुसकराई।

हम दोनों को एक-एक भट्टी दे दी गई। वड़े भारी कड़ाह के नीचे आग जल रही थी। कड़ाह को भट्टी के मुंह पर गारे से विठा दिया गया था। उस में गर्म रेत भरी थी। भट्टी के चारों ओर वने छेदों में से आग की लपटें निकल रही थीं और धुएँ के वादल उठ-उठ कर दुकान की छत से लिपट रहे थे। लकड़ी के डंडों से, जिन के छोर पर लोहे की चपटी पिलेट (प्लेट) सी लगी थी, हम लोग रेत हिलाती रहीं। रेत अच्छी तरह गरम हो गई तो उस में चने छोड़े गए जो फट्-फट् की आवाजों के साथ फूटने लगे। उन की सोंधी खुशवू मेरी नाक में गई। मेरे मुंह में पानी आ गया जिसे मैं चुपचाप निगल गई। इस पानी में चनों का स्वाद था, मैं ने सन्तोष कर लिया। चने फूट चुकते तो उन्हें रेत समेत एक वड़ी-सी छलनी में डाल कर अलग कर लिया जाता और रेत फिर से भट्टी के कड़ाह में झोंक दी जाती।

धुए से मेरी आंख में पानी भर आया था। नाक भी बहने लगी थी। बार-बार मुझे उठ कर उसे सिनकना पड़ता। चार घण्टे काम कर मैं ने ढेर सारे चने फोड़ लिए। सुसीला ने मकई और धान फोड़ा था। पसीने में डूबी हम लोग दुकान से बाहर निकलीं तो हवा के ठंडे झोंके ने हमारे जिस्म के चप्पे-चप्पे को छूआ, मानो वह हमारी मेहनत की तारीफ कर रहा हो।

हम दोनों को पचास-पचास पैसे मिले थे।

मैं बोली—"आज मोर बोहनी होए हवै।" हम पास के एक होटल में घुसी। इस के पहले भी मैं होटलों में जा चुकी थी, लेकिन आज अजीब सी सनसनी महसूस हुई मुझे। पहले मेरे साथ ददा अवश्य होते थे, आज मैं अपनी एक सहेली के साथ थी और मेरी हथेली में वे पैसे थे जो मेरी अपनी कमाई थी। हम ने चाय पी और दो-दो आने की मीठी पूड़ियां खाई। हम बहुत हस रही थी जिस से हमारी बेंच हिलती हुई चू-चू कर रही थी।

चाय बनाने वाले नौकर ने एक बार हमारी ओर देख कर आख मारी और भद्दा मजाक किया। मेरी हसी गायब हो गई। भद्दे मजाकों का सामना करतरा में मुझे बहुत कम करना पड़ता था, लेकिन यहा, दानीपुर में लोग पग-पग पर मा-बहन की गालिया देते थे। अभी तक मैं इन गालियों की आदी नही हो पाई थी लेकिन सुसीला तो यहीं की रहने वाली थी न। उस ने नौकर की ओर आखें तरेरी।

नौकर हस पड़ा—"कौन-सा शिकार फासा है तुम ने, जो इतना बिलबिला रही हो? ऐं?" उस ने अपने पीले दात दिखाए।

"चुप भड़वे! अपनी बहनी ला (को) कहबे ऐसा!"—सुसीला ने फुफकार कर कहा। नौकर शायद कुछ और बकता लेकिन तभी होटल का मालिक वहा आ गया। उसे चुप हो जाना पड़ा। चाय के गर्म घूट गले से उतार कर हम बाहर निकलीं। दोनों के पैसे खर्च हो चुके थे जिस की हमें खुशी थी। हम ने इसी लिए कमाया था।

रात को मैं कल्पनाओं में खो गई। मैं रोज पचास पैसे कमाऊं, बल्कि ज्यादा काम कर के और ज्यादा पैसे कमाऊं तो कुछ ही दिनों में रोज के खर्चों के वाद भी मैं अपने लिए नाखून की लाली खरीद सकती हूं—लाली, जो सुसीला लगाती है।

यदि ददा को मालूम हो जाए कि मैं भड़भूजे की दुकान में काम करती हूं, तो उन्हें कैसा लगेगा ? शायद उन्हें गुस्सा आ जाएगा। लेकिन मैं क्या करूं ? ददा मुझे पहले की तरह नहीं चाहते, पहले की तरह मेरी परवाह नहीं करते। यही हाल दाई का है। वल्कि दाई तो और ज्यादा वदल गई है। दोनों को मालूम है कि मैं सनीमा की कितनी शौकीन हूं लेकिन यहां आ कर उन्होंने मुझे केवल एक वार सनीमा दिखाया है।

वचपन से लाड़ में पलो होने के कारण मैं मिजाज की शहजादी थी। जो चीज देखती, लेने को जी चाहता। करतरा में चीजें कम थीं। जो थीं, मुझे देर-सबेर मिल जाती थीं। यहां चीजों की कोई कमी नहीं थी। रोज नए-नए फैशन के समान हटरी वाजार में आते। मैं उन्हें रोज देखती थी, क्योंकि काम करने के लिए मैं भड़भूजे की दुकान पर रोज आती थी। मेरी रोज की कमाई रोज फुंक जाती। मैं कभी पचास पैसों का काम करती, कभी ज्यादा का, लेकिन शायद ही कभी कुछ वचा पाती। सुसीला में यह गुण था कि वह अपने मन पर कावू रख लेती थी। वह पाई-पाई जोड़कर उन्हें एक साथ खर्च करती थी, जिस से वह उन सारी चीजों को खरीद सकती थी, जिन्हें रोज की कमाई रोज खर्च करने वाली मैं खरीदने की सोच भी नहीं सकती थी।

दस दिनों के वाद मैं ने देखा कि मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ा है। वल्कि मेरे भीतर इच्छाओं की जो आग दवी हुई थी, वह भड़भड़ जल रही थी। अव मैं अपने वस में नहीं थी। मैं ने देखा, यदि मैं काम नहींकरूंगी, तो मेरा काम नहीं चलेगा। इस नई वात ने मुझे डरा दिया, क्योंकि मेरी इच्छाओं का कोई ओर-छोर नहीं था। काम के सिलसिले में रोज मैं घण्टों वाहर रहती। दाई अकसर पूछता कि मैं कहां जाती हूं, जो वाजार घूमने, वेर

तोड़ने, सहेलियों के यहां गपशप करने आदि के बहाने बना देती, लेकिन मैं जानती थी, ऐसा ज्यादा दिन नहीं चलेगा।

दद्दा को यदि मालूम हो गया कि मैं चोरी से काम कर के अकेली-अकेली गुलछर्रे उड़ाती हूं, तो उन का गुस्सा भड़क उठेगा। मुझे वह रात याद आई जब दातून की छड़ सड़सड़ मेरी पीठ पर बरसी थी और जगह-जगह से मेरी चमड़ी उधड़ गई थी। जो दद्दा मुझे इतनी क्रूरता से मार सकते थे वह मेरे साथ कोई भी दुर्व्यवहार कर सकते थे। यह मेरे दिमाग में आया ही नहीं कि दद्दा मुझे प्यार भी करते हैं। उन का प्यार अब बीते दिनों की चीज थी जो कभी-कभी केवल याद आती थी। दद्दा बदल गए थे, मैं बदल गई थी, दाई बदल गई थी। सब के बदलने के अलग-अलग कारण थे, लेकिन बदले सभी थे।

मैं अपने शौक पूरे करना चाहती थी, जो पूरे हो रहे थे। मैं दिनों-दिन ढीठ होती जा रही थी। सुमीला की हर खासियत मेरे स्वभाव में घुस रही थी। मैं बड़ी खुश थी। मैं जान गई थी, पहले मैं बुद्धू, बेवकूफ, गंवारन थी। अब मैं चण्ट हूं, शरारती हूं, अच्छे-अच्छों के कान काट सकती हूं।

दाई दिनोंदिन आने वाले शिशु के मोह में पड़ी जा रही थी। हर समय वह कुछ सोचती रहती और मैं उस के सामने होती, तो भी उस के सामने न होती। दो-तीन बार पुकारने पर वह एक बार जवाब देती। रसोई का लगभग सारा काम मैं करती थी। वह केवल बर्तन मांज देती थी। भोजन अब उसे थोड़ा-थोड़ा अच्छा लगने लगा था, लेकिन अभी भी वह मछलियों या बासी की बजाए फल खाना ज्यादा पसन्द करती थी जिन में दद्दा की कमाई रोज उड़ जाती।

दो दिन बाद दशहरा था। दशहरे के आने का मतलब था ठंड और अभी तक हम लोगों ने नया कम्बल नहीं खरीदा था। नया कम्बल बड़ी आसानी से खरीदा जा सकता था, यदि दद्दा उन तीन सौ में से पचीस-तीस रुपए खर्च के लिए तैयार होते। लेकिन वे तीन सौ दद्दा की बहुत

बड़ी कमजोरी थे। दाई की सौरी में पचास लगने के बाद ढाई सौ बचने वाले थे। करतरा में ददा ने कहा था, इन रुपयों से वह कोई धन्धा करेंगे, लेकिन अब मैं जान गई थी, ददा से धन्धा नहीं हो सकता। उन की मिट्टी धन्धे के लिए नहीं, नौकरी के लिए बनी है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी से हम लोग ग्वाले रहे थे, दूसरे शब्दों में नौकर। धन्धा करने का जोखिम उठाने का साहस ददा के लहू में नहीं था।

ददा बीड़ी-कारखाने के मजदूरों के ऊपरी हो गए थे। खुद तो बीड़ी बनाते ही, साथ ही यह भी देखते कि कोई कामचोरी तो नहीं कर रहा। पैसे उन्हें ज्यादा मिलने लगे थे। इस तरक्की ने ददा की कमजोरी को और उभार दिया था।

बातों-ही-बातों में मैं भांप गई थी कि ददा के मन में धन्धा करने के खिलाफ दहशत बैठ गई है। वह सोचने लगे थे कि धन्धे में अगर बरकत है तो धन्धा ले-डूब भी सकता है। पड़ोस के एक दुकानदार पर इतना कर्ज हो गया था कि उसे कौड़ी के दाम सारा सामान नीलाम करना पड़ा था। बस, तभी से ददा के मन में भय का भूत घुस गया था। उन्हें अपनी कमजोरी का पता चल गया था। धन्धा करने की बात केवल अपने को धोखा देना, अपने को झुठलाना था। कड़वी सच्चाई नंगी हो गई थी जिससे वह दिन-ब-दिन अधिक उदास, खिन्न, खोए-खोए और चिड़चिड़े होते जा रहे थे। कभी-कभी मुझे लगता,उन्होंने कई दिनों से मेरी ओर, अपनी लाड़ली बिटिया की ओर देखा तक नहीं है। कभी मुझे उन पर गुस्सा आता, कभी दया उपजती। वह भंवर में फंसे हुए थे।

यदि ददा से पूछा जाता कि पचास रुपए दाई की सौरी में खर्च होने के बाद बाकी रुपयों का वह क्या करेंगे, तो शायद वह कोई जवाब न दे पाते। वह बस, उन रुपयों को छाती से लगाए रखना चाहते थे। रुपयों को हम ने कोठरी के एक कोने में गाड़ रखा था। ददा अकसर जमीन खोद कर हंडिया बाहर निकालते, रुपए गिनते और फिर से गाड़ देते। गाड़ कर उस के ऊपर अपनी चारपाई का पाया रख देते।

दाई मुझे बचपन में कहानियां सुनाती थी। एक राजा रहिस। ओकर बड़ा भारी खजाना रहिस। चमक-चमक हीरे…बिजरी जईसे जवाहिरात…झकझक चांदी ! फेर राजा मर गिस। दुसर जनम मां बन गे सांप ! फो ! कारा-कारा नाग ! खजाने पे कुण्डली मार के बईठ गिस। न खुद खरच करत है, न दुसर मनखे को करन देत है !…

साप !

न खुद खरच करत है, न दुसर मनखे को…

ददा चारपाई पर बैठ कर बीड़िया फूकते, जिन्हें वह कारखाने से चुरा कर लाते थे। चारपाई के ठीक नीचे…

एक दिन ददा ने मुझ से कहा कि अपना कम्बल तुम्हें ही खरीदना पड़ेगा। उन्हें पता चल गया था, मैं भड़भूजे के यहां काम करती हूं। उन्होंने मुझे और सुमीला को रंगे हाथों पकड़ा था। हम दोनों भट्टी की गर्म रेत हिलाने में लगी थीं और ददा उधर से आ निकले थे। हमें देख कर वह चौंक कर खड़े रह गए थे, फिर पास आए थे और पूछा था—"चनें का का भाव हवै, वो ?"

मैं ने उन की ओर देखा था, तो मेरी सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई थी। ददा की मक्कारी मैं ने उन दिन पहचानी। उन्होंने मेरी ओर इस तरह देखा, जिस तरह वह किसी भी एक लड़की की ओर देखते। मानो वह मुझे पहचानते ही न हों, मानो मैं उन की बेटी न होऊं। मेरे मुंह से एक भी शब्द न निकल सका था। मेरे हाथ का रेत चलाने का डंडा अपने-आप रुक गया था। ददा तब तक हाथ में एक मूंगफली उठा कर उस का छिलका तोड़ रहे थे। भड़भूंजे ने मुझे डांट लगाई—"ऐ टुरी, का देखत हस ? चला हाथ ! चने जलत हैं !"

मैं हाथ चलाने लगी थी। ददा ने भड़भूजे के साथ मोलभाव किया था और कल आने का वादा करके चले गए थे। मेरे डंडे के छोर पर लगा वह लोहे का टुकड़ा कड़ाह में *खर्र-खर्र रेत उलटता रहा था…मशीन की तरह…*

करतरा के ददा मर चुके थे, दानीपुर के ददा जिन्दा थे। करतरा के ददा तो मुझे देखते ही जोर से चीखते—"ए कलमुंही ! चोरी-चोरी काम करत हस, रोगही ! चल घर !" और प्यार से या कुछ गुस्से से ही सही, मुझे कान पकड़ कर घर ले जाते।

रात को घर लौटी, डरती-डरती। ददा दाई को सब वता चुके थे। मैं ने देखा, दाई गुस्सा होने की वजाए मेरी ओर देखती हुई मुसकरा रही है। ददा ने कहा—"नोनी ! कतेक (कितने) रुपया जमा करे हस तैं ?"

क्या ये ददा के शब्द हैं ? और मैं कैसे कहूं, मेरे पास कुछ नहीं है, जो भी मिला, सब मैं ने खर्च कर दिया है। लेकिन सत्य नहीं छिप सकता था।

मेरी वात से ददा चौंके, फिर उन के चेहरे पर ऐसे भाव तैरे, मानो उन्होंने मुझे माफ कर दिया हो। वोले—हमार कम्वल चोरी हो गे हवै। अव ओला (उसे) खरीदने का जिम्मा तोर। समझी ?"

"मैं ने सिर हिलाया। अव समस्या, यह थी कि कम्वल के पच्चीस-तीस रुपए मैं कव तक जमा कर पाऊंगी ? रात को मुझे कम्वल ओढ़ने न दिया गया। एक दाई ने ओढ़ा, एक ददा ने, मैं केवल धोती में सोई। मन-ही-मन दाई-ददा के इस मतलवीपने पर मैं हंसी, लेकिन मैं ने उन्हें माफ कर दिया।

'दुनिया में स्वार्थ कहां नहीं है ?'—मैं ने सोचा—'करतरा में मैं दाई-ददा की परवाह करती थी, क्योंकि मैं उन के आसरे पर थी। यहां मैं कमाने लगी, उन से मेरा स्वार्थ कम हुआ, मैं ने उन की परवाह करना कम कर दिया। दाई मुझे प्यार करती थी, उस के पीछे भी स्वार्थ था। प्यार करने की उस की भूख मैं शान्त करती थी। अव एक नया प्राणी उस के पेट में पल रहा है, जो मुझ से कहीं ज्यादा उस की उस भूख को शान्त करेगा। मैं अव जवान हो गई हूं, मुझे दाई भींच नहीं सकती, अपनी गोद में सुला नहीं सकती। यह सब वह उस नए प्राणी

के साथ करेगी। मेरे साथ उन का स्वार्थ अब नहीं रहा। इसी से वह बदल गई है।'

ददा भी मुझे स्वार्थ से चाहते थे—मैं जान गई। मेरे होने वाले पति के भरोसे वह अपना बुढ़ापा काटने की आस लगाए बैठे थे।

दानीपुर आने के बाद कल्याण भवन के बारे में हम ने कई दिनों से कुछ न सोचा था। तीन बहुएं, दाऊ दुखमोचनसिंह और उन की कुबड़ी पीठ, उन के तीनों बेटे, उन के मरियल ढोर···

और हां, अपनी शादी की बात बताना भी भूल गई। करतरा में ददा ने इस सवाल को ले कर बड़ी सरगर्मी दिखाई थी। ददा अब तक इस का कोई हल खोज न पाए थे। अब मुझे भाग्य के भरोसे छोड़ दिया गया था। धन कमा कर घरजमाई लाना उन के बूते की बात नहीं थी। दूसरे शब्दों में मुझे अपनी चिन्ता आप करनी थी।

एक दिन उन्होंने ऐसा इशारा किया था। तब से मेरे मन में उन के लिए जरा भी आदर न बचा।

दानीपुर में एक डाक्टर था। जिस ने एक छत्तीसगढ़िन [illegible] को घर में बिठा लिया था। वह बहुत सुन्दर थी। मैं ने खुद उसे देखा था। डाक्टर की घर वाली बनने के बाद वह गुलछर्रे उड़ा रही थी।

उस दिन रात को बातें करते समय ददा ने गहरी [illegible] से मेरी ओर देखा था और वही डाक्टर वाला किस्सा छेड़ दिया था। उस [illegible] का जिक्र करते समय उन्होंने कहा था कि उन की हिरन [illegible] से कम खूबसूरत नहीं है।

मैं चौंक पड़ी थी। अंधेरे में ददा के चेहरे को [illegible] की कोशिश में मैं ने अपनी आंखें सिकोड़ी थीं। [illegible] मैं भी किसी अकल के अंधे, गांठ के पूरे को [illegible] डालूं? हां, यही मतलब था उन का। [illegible] और उनका मतलब साफ झलकता था··· [illegible] थूक दिया।

मैं सुसीला के साथ रामलीला देख कर लौट रही थी। रात के बारह बज चुके थे। सड़क पर रामलीला के कारण थोड़ी हलचल थी, वरना इतनी रात गए चोरों और प्रेमियों के सिवा कौन जागता है। हम ने एक-दूसरे की कमर में हाथ डाल दिया और धीमे स्वर में गुनगुनाने लगीं—

हीरा जो गढ़ नगरी आए
येरू गत्राढ़ा पायोर आए···

हीरागढ़ की हवेली का गाना ! मुझे कल्याण भवन याद आ गया। दाऊ दुखमोचनसिंह अभी भी वैसे ही सनकी होंगे ? या उन की सनक और भी बढ़ गई होगी ?

येरू ग मंजला न किल्ला आले
बारा रे हजार फौज आए····

मैं कल्याण भवन को भूल गई। आसपास की हर चीज को भूल गई। यहां तक कि सुसीला को भी भूल गई, जिस की कमर में मेरा हाथ था। याद रही मुझे केवल गुनगुनाहट, जो मेरे दिल की सच्चाइयों से निकल रही थी।

री रीना, रीना रीना री रीना !
हीरा जो गढ़···

कम्बल के तीस रुपए मैं कैसे कमाऊंगी, इस समस्या को सुसीला सुलझा दिया था।

दीवाली करीब आ रही थी। रोज शाम को हम दोनों मुहल्ले की छोकरियों के साथ मधुर गीत गाती हुई निकलतीं। तब हम अपने सा दुख-दर्द भूल जातीं। हमारे सांवरे होंठों से गीत फूटते और उन झोंप व मकानों को गुदगुदाने लगते, जो चूने की नई पोशाकें पहन रहे थे।

हर भरे-पूरे घर के सामने हमारी टोली रुक जाती, घेरा बनाती और नाचती। कमर को झुका कर, आगे-पीछे डग भरती हुई हम लोग गोल चक्कर लेतीं और तालियों के ताल देतीं। किसी के पैरों में पायल पड़े होते तो वे छुनकते। हम अपना सिंगार कर के दीवाली का सिंगार कर रही थीं। कानों में लाख की बालियां या फूल, गले में मनके या गदराए गेंदे के हार, नई-नई धोतियां और पोलके, नए-नए चमरौंधे···

नाचते समय हम दो दलों में बंट जाती।

तड़ ! तड़ ! खब ! खब !

सभी तालियों की एक आवाज होती और पहला दल गीत उठाता—

पहलो गवन के डेहरी बंठारे,
छांड़ पिया जायं बनिज ब्योपार,
काकर संग खइयों, काकर संग खेलिहों
का देख रहियों मन बांध···

कोई नवोढा है। पहली बार गौना हुआ है उस का। लाज की मारी वह मरी-मरी जाती है। और पति की कठोरता तो देखो। पत्थर का दिल है उस का। घर में उसे अकेली छोड़ कर खुद चला गया है ब्यापार करने। बेचारी वधू किसे देख कर मन बांधे, किस के साथ हंसे-खेले, ठिठोली करे ?

दूसरा दल झूमता है···कहता है—अरी, क्यों इतनी उदास होती है ? आंगन में तुलसी का पौधा लगा ले और रोज उसे देखा कर। यदि वह हरा-भरा है तो समझ ले, तेरे पिया मजे में हैं। यदि वह मुरझा गया है, तो जान कि वह मुसीबतों से जूझ रहे हैं।

! तड़ ! तड़ ! खब ! खब !

लहरीले स्वर, पथरीले ताल !

अंगना लगा ले तं तुलसी के बिरवा
ओला देख रह मन बांध
तुलसी के बिरवा हरियर-हरियर

मोर राजा करत बनीज
तुलसी के बिरवा झुरमुर-झुरमुर
मोर पिया गय रन जूझ

लेकिन इस नटखट देवर से कौन बचाए वधू को ? छेड़ करने का कोई मौका नहीं चूकता।

छोटे देवर मोर बड़ नटकुरिया
छेंकत हैं मोर दुवार,
सोवा परे में फरिका ले गेलें
बचिहै कसिके धरम हमार

जब-तब दरवाजा छेक कर खड़ा हो जाता है। यह नहीं, रात को सब सो जाते हैं तो मेरे किवाड़ खटखटाने से भी नहीं चूकता। हे भगवान ! मेरी लाज कैसे बचेगी ?

नाचते-नाचते मैं दूर से तुरही, ढोलक और नगाड़ों के स्वर सुनती हूं। ढुम ढुम तिनक तिनक ! पीं···ऽ···ऽ···! ककड़ ककड़ !

डीकों की टोली नाचती हुई आ रही है। सब ने अजीब पोशाकें पहन रखी हैं। लाल-पीली पगड़ियां, कौड़ियां-मढ़े कवच, हाथ में नकली तलवार-ढाल, पैरों में छुम-छनक पायल और कान पर मोर के पंख··· सब नाच रहे हैं, कूक रहे हैं, किलक रहे हैं।

हम अपनी आवाज और ऊंची कर देती हैं। हमारी गति और तेज हो जाती है···

कारी नागिन मोर मितनियां,
रात रहे संग आय।

अरे नासमझ देवर ! काली नागिनों से मेरी मित्रता है। रात को वे मेरे साथ सोती हैं। पास आओगे तो डस लेंगी !

और अब तो कातिक लग ही चुका है। सजन के लौटने में देर नहीं अब। मैं अपने घर में बहुत बड़ी ढीबरी जलाऊंगी···पिया के मनमंदिर में भी दीप जगमगाएंगे···दीपावली के दीप !

कातिक लगे अइहें सजनवा
जलहिं जोत बिसाल
तरि हरि नाना, मोर नाना री नाना,
ओ तरि हरि नाना,
सुअना रे, सुअना, मई मोर सुअना रे सुअना,
पहलो गवन के···!

नाच खत्म होता और हमें बख्शीश दी जाती है। हम किसी और आंगन में नाचने के लिए चल देतीं।

आतिशबाजी के धूमधड़ाके के बाद जब दीवाली ने विदा ली, तो नाच से मिली कुल रकम मुहल्ले की डोकियों ने आपस में बांट ली। मेरे हिस्से में ६१ रुपए २८ पैसे आए।

मैं उसी दिन बाजार गई। अपने लिए एक कम्बल खरीद लाई। जो पैसे बचे होटल में उड़ा दिए। सुसीला साथ थी ही। सनीमा का मीटनी सो भी देखा। सुसीला खुश थी—"हिरना! तैं अच्छा बदला ले हस अपन ददा से!"

"हां! वो इसी के लायक हवे!"—मैं ने उस के गले में हाथ डालते हुए कहा।

कम्बल खरीदने के बाद मैं और आजाद हो गई। ददा अब मुझे किसी बात पर टोक नहीं सकते थे। दाई ने मुझे छेकने का प्रयास किया तो मैं बिदक गई।

"हिरना तोर लच्छन अच्छे नहीं हवे।"—उस ने एक बार मेरी आंखों में घूरते हुए कहा।

"का मतलब?"

"मतलब साफ हवे। तैं आवारा होत जात हस।"

मैं चुप। लापरवाही से दूसरी ओर देखती रही।

"रोज कतेक (कितना) कमात हस?"

"कभी जियादा, कभी कम।"—मैं ने गोलमोल जवाब दिया

'साफ-साफ बता।''

"न बताऊं तो ?"—मैं दूसरी ओर घूम गई। सुसीला भी यही करती थी। वह कितना कमाती है, उस के घर में कोई नहीं जानता था।

दाई एक गहरी सांस भर कर चूल्हे की ओर बढ़ गई। फिर-फिर वह मछलियों के मुलायम जिस्म काटने लगी। मैं ने उस के उभरे पेट की ओर देखा। बड़ी कठोरता से मैं ने हिसाब लगाया कि मेरे नए भाई या बहन को आने में अब पांच महीनों से ज्यादा देर न होगी।

दाई-ददा के लिए मेरे मन से प्यार बिल्कुल ही चला गया हो, ऐसी बात नहीं थी। शहर के भावनाहीन जीवन ने उस प्यार के अंगारों पर राख की मोटी-मोटी पर्तें चढ़ा दी थीं। उन का बदला हुआ व्यवहार इस पर्त पर और नई पर्त चढ़ाता लेकिन कभी-कभी मुझे लगता कि मैं अभी भी उन्हें उतना ही प्यार करती हूं, जितना करतरा में करती थी और वे भी मुझे अभी भी पहले के जितना ही चाहते हैं। कई छोटी-छोटी घटनाएं घटा करतीं जिन से पता चल जाता कि हम एक-दूसरे से चाहे जितनी भी खिचें, प्यार तो हमारे बीच रहेगा ही।

उस रात ठंड ज्यादा थी। मेरी नींद खुल गई, क्योंकि मेरी टांगों ने कम्बल को डील से नीचे हटा दिया था। थोड़ी देर तक मैं आलस से कसमसाती रही। कौन उठ कर कम्बल को बटोरे और फिर से अपने पैर फैलाए। तभी दाई की धीमी फुसफुसाहट मेरे कान में पड़ी—"रोग-ही टुरी ! आवारा ! होश नहीं हवै कुछ भी !" वह मेरे ऊपर झुक आई थी और मुझे ठीक से कम्बल उढ़ा रही थी—"ठंड भी नहीं लगथै मुंह-जरी को ! जिसम में गरमी जियादा आगे हवै न !"

मैं मन-ही-मन हंसी। हां, सचमुच मेरे शरीर में गर्मी बढ़ती जा रही थी...दिन-ब-दिन...

फिर मैं आभार से दब गई। दाई मुझे प्यार करती थी।

मैं अब कभी-कभी बाजार से लौटते समय दाई के लिए अपने कमाए

पैसों से फल ले जाती। एक बार मैं ने उस के लिए पोलके का कपड़ा भी खरीदा। मुसीला ने हालांकि इस के लिए मेरी हसी उड़ाई, लेकिन मैं जानती थी, इस तरह मैं दाई से प्यार कर रही थी। मैं लाचार थी।

ददा ने कभी भी मुझ से पैसों का हिसाब नहीं पूछा था। उन्होंने मेरे लिए चीजें लाना बन्द कर दिया था, बस। दूसरे शब्दों में खाने-पीने के सिवा अपने सारे खर्चों के लिए मैं खुद कमा रही थी।

एक बार मैं ने ददा के लिए छः रुपयों की नए फैशन की जाकीट खरीदी। जाकिट को पल्लू में छिपाए हुए मैं कोठरी में घुसी तो ददा मुझे देखते ही हसने लगे और बोले—"आ गई (मोर) मेरी हिरना ? मोर आवारा हिरना ? देख मैं तोर बर (तेरे लिए) का लाए हौं।"

उन्होंने मेरी ओर एक छोटी-सी पेटी बढ़ा दी। पेटी हथेली पर रख कर मैं ने उसे खोला, तो भीतर एक शीशा लगा था, चमेली के तेल की नन्ही-सी शीशी थी, नीलपालिस थी, पोडर था।

मैं हंस पड़ी और मेरे हाथ में जाकिट झूलने लगी—"देखो ददा, देखो ददा, ए का हवै !"

⊙

एक दोपहर मैं बाजार में ठिठक कर खड़ी हो गई।

मैं ने दाऊ दुखमोचनसिंह के बड़े बेटे को एक सब्जी वाले से मोल-भाव करते देखा।

बड़े बाबू ? यहां ?

मैं एक खोंचे की आड़ में खड़ी हो कर उन्हें देखती रही। उन्होंने गोभी और मटर थैले में डाले और चल पड़े। पीछे-पीछे एक और आदमी चला। मैं ने उसे पहचाना। वह रामलखन था। रामलखन'''ददा के एक गहरे मितान (दोस्त) का बेटा, जो ददा के बीमार पड़ने पर कल्याण भवन के ढोर चराने जाता था।

ये दोनों क्यों आए हैं ?

बाजार आ कर ये सब्जी खरीद रहे हैं, इस का मतलब है कि वे जरूर यहां कुछ दिन रुकने वाले होंगे।

दाऊ दुखमोचनसिंह भी आए हैं क्या ?

मैं, सुसीला और उस की दो सहेलियां, जो मेरी भी सहेलियां हो गई थी, मारकीट में घूम रही थी। मैं ने सुसीला की कमर मे हाथ डाल दिया था, और महसूस कर रही थी कि वह मेरी कितनी अच्छी दोस्त है।

मारकीट की सड़क मुरमी थी। उस की लाल छाती ऊबड़-खाबड थी। लोग चटकीले कपड़े पहन कर इधर-उधर घूम रहे थे। मुझे अच्छी तरह पता था कि भीड़ में मैं अलग झलक रही हूं। कई बार नवयुवक मुझे देखने के फेर में किसी से टकरा जाते और 'अधे ! भड़वे !' की गालियां खाते। कोई साहसी युवक मेरे काफी करीब से गुजरता और इतने से ही अपने को तसल्ली देता। जो ज्यादा साहसी होता वह किसी बहाने मुझे छू लेता। मुझे अच्छा लगता, साथ ही थोड़ी चुनचुनाहट भी होती, लेकिन भीड़ मे कोई किसी को छू ले तो उसे कहा भी क्या जा सकता है !

सुसीला ने मेरी कमर पर चिकोटी काटी और मैं चौंक पड़ी। "का हवै ?"—मैं ने उस की ओर देखा। उस ने उगली से एक ओर इशारा किया। मैं ने उधर आँखें उठाईं। मैं समझ न सकी कि भीड़ में वह किस की ओर इशारा कर रही है और क्यो। मैं ने फिर से सुसीला की ओर देखा—"का बात हवै ?"

"उस घोंचू ला (बेवकूफ को) नही देखा ?"—उस ने कहा और बिना किसी झेंप के एक युवक की ओर उगली उठा दी। मुझे अच्छा नही लगा। सरेआम किसी की ओर उंगली उठाना भली बात नही थी।

वह युवक सचमुच घोंचू मालूम पड़ता था। उसके चेहरे की हर तराश

से बेवकूफी टपक रही थी, लेकिन वह यों रौबदाब में खड़ा था मानो दुनिया में एक वही है। उस ने कीमती कपड़े पहने थे। आंखों में सुरमा और कान में चांदी की बालियां। बाल घुंघराले। छोटी-छोटी मूंछें भी थीं।

"वो कब से तोर कोती (तुम्हारी ओर) घूरत है।" सुसीला ने बताया तो एकाएक मेरी हंसी फूटने को हो आई। कितनी विचित्र बात है कि घोंचू लोगों को भी अपनी ओर घूरने से नहीं रोका जा सकता।

वह मेरी ओर देखने लगा। मैं भी उस की ओर देखने लगी। वह हड़बड़ा गया। तुरन्त उसने आंखें हटा लीं और मेरे माथे के ऊपर से यों देखने लगा जैसे मेरे पीछे की कोई दिलचस्प चीज देख रहा हो।

उस के हड़बड़ाने पर हम मुसकरा पड़ीं। करतरा में यों मुसकराना शायद कोई गहरा मतलब रखता, लेकिन यह दानीपुर था। यहां यह आम बात थी और मुझे इस की, इसे बेशर्मी ही कहिए, आदत पड़ चुकी थी।

वह घूम कर दूसरी ओर हो गया। हमारी मुसकराहट ने उसे और ज्यादा झेंपा दिया थ

उस का नाम सियाराम था, यह मुझे दूसरे ही दिन मालूम हो गया। मैं दुकान में चने फोड़ रही थी। वह मेरे सामने आ कर खड़ा हो गया। उस के साथ तीन-चार दोस्त थे। वे भड़भूंजे से मोल-भाव कर रहे थे और वह मुझे घूर रहा था। मैं चुपचाप चने फोड़ती रही। मेरी आंखें कहीं और देखते हुए भी चालाकी से उस की हरकतों पर लगी रहीं। आज भी उस ने चमचम कपड़े पहने थे। कमीज की ऊपरी जेब से एक रूमाल झांक रहा था, जो रेशमी था। जेब में एक भूरा फोण्टनपेन भी था। उस की ओर से हवा का झोंका आया। वह सीण्ट लगाए हुए था। केवल मजा लेने के लिए मैं ने आंखों की बड़ी-बड़ी पलकें उठा कर उसे भरपूर निगाह से देखा। कुछ देर तक वह मेरी आंखों से आंखें मिलाए रहा, फिर सकपकाया हुआ-सा दूसरी ओर पलट गया। करीब की भट्टी पर

सुसीला मूंगफलिया भून रही थी। मैंने उस की ओर देखा। उस ने मुस-करा कर धीरे से मुझे आंख मारी।

उन लोगों ने आठ आने की भुनी मूंगफली खरीदी। चलते समय एक युवक ने सिया की कलाई पकड़ कर खीची और ऊंची आवाज मे बोला—"आओ सियाराम, देर होत है।" ऊंची आवाज साफ कहती थी कि मैं सिया का नाम जान जाऊं। सभी युवकों की उड़ती-उड़ती नजर मेरी ओर फिरी। मैं लापरवाही से काम में लगी रही।

भड़भूंजे ने मेरी रोजी के पैसे बढा दिए थे। मैं जान गई थी कि वह मुझ पर मुग्ध हो गया है। अब मैं पहले से कम काम करती थी, पैसे ज्यादा पाती थी। भड़भूंजा मुझ से अकसर ठिठोली करता रहा। सुसीला और मुझ मे कभी किसी बात पर तकरार होती, तो वह मेरा ही बचाव करता।

इधर कुछ दिनो से मुझे ऐसा लगने लगा था कि सुसीला मुझ से चिढ़ती है, जलने लगी है। बात थी भी ऐसी। वह काम मुझ से ज्यादा करती थी और नौकरी भी उस की मुझ से पुरानी थी, लेकिन पैसे वह मुझ से कम पाती थी। उसे रूखा हो ही जाना था।

किसी सगवारिन के रूठने पर उदास हो जाने की कमजोरी अब मुझ में नहीं थी। हसमुख होने के कारण मेरे लिए सहेलियों की कमी नही थी। जिधर भी जाती, मैं टुरियों और डौकियों से घिरी रहती।

'सुसीला रूठत है तो रूठ जाने दो, मैं ओला मनाऊंगी थोडे ही!' मैं ने मन-ही-मन सोचा था।

उस रात मैं ने एकाध बार सिया को याद किया। उस के बारे मे इस से ज्यादा और क्या सोचा जा सकता था कि वह एक बेवकूफ युवक है। वह मुझे जरा भी सुहाया नही था, लेकिन किसी लडकी को कोई सुहाए या न सुहाए, यदि वह उसे घूरता है, तो वह उस के बारे मे सोचेगी जरूर। मुझे यह भी याद आया कि सिया ने बहुत कीमती कपड़े पहन रखे थे।

२४

जिस दिन मैं ने बड़े बाबू के साथ रामलखन को मारकीट में देखा था, उस के चौथे दिन शाम को वह ददा के साथ एक ही खाट पर बैठा बीड़ियां फूंक रहा था। मैं कोठरी में बैठी उन की बातें सुन रही थी।

"तुम्हार कारखाने की बीड़ी तो अब्बड़ (बहुत) बढ़िया हवै।"—रामलखन ने गहरा कश लिया।

"क्यों रामलखन,"—ददा पूछ रहे थे—"दाऊ अभी तक वैसे ही सनकी हवें का?"

"हहो (हां)! जानत हस, ओकर नई सनक का हवै?"

"का?"

मेरे कान सावधान हुए। रामलखन जवाब दे रहा था—"दानीपुर में दू महीना बाद मुन्सीपाल्टी का चुनाव होही। उस में मुरारी दाऊ पेसीडेण्ट बने बर (बनने के लिए) खड़े होहीं।"

"तो?"

"तो का, अब समझ लो, दाऊ के सनक का होनी चाहिए…"

"अब बता भी जल्दी…"—ददा ने नई बीड़ी सुलगाई और एक उस की ओर बढ़ाई। दोनों की उम्र में बहुत फर्क था, लेकिन चूंकि रामलखन करतरा के समाचार सुना रहा था, दोनों हमउम्र हो गए थे।

"एही कि दुखमोचन दाऊ मुरारी दाऊ ला (को) चुनाव जीतन नहीं देहीं।"

"वो किस तरह?"—मेरे मन का सवाल ददा के मुंह से निकला। मैं ने कोठरी से झांक कर रामलखन की ओर देखा।

फिर रामलखन ने जो-जो बातें बताई उस का मतलब थोड़े में यह था कि मुरारी दाऊ चुनाव जीतने के लिए जो भी काम करेंगे, उस में

दाऊ दुखमोचनसिंह की ओर से हर तरह का अड़ंगा डाला जाएगा।

तो अभी भी जली रस्सी की ऐंठन बाकी थी !

मुरारी दाऊ के ग्वाले से एक बार ददा की मुलाकात हुई थी और वह हमारे घर भी आया था। उस ने मुरारी दाऊ के बारे में बहुत-सी बातें बताई थीं। ग्वाले की नौकरी छूटने के बाद अब वह एक दराने (दानों पर से छिलका उतारने की मिल) में काम कर रहा था। उस की नौकरी मुरारी दाऊ ने ही लगवाई थी। यों मुरारी दाऊ उस के लिए कोशिश न करते तो भी नौकरी तो उसे मिल ही जाती, लेकिन दाऊ के कारण हर माह वह दस रुपए ज्यादा पा रहा था। उसी से हमें मालूम हुआ कि मुरारी दाऊ उस दिन बिल्कुल अचानक करतरा क्यों गए थे।

दाऊ दुखमोचनसिंह के आदमी मुरारी दाऊ के खेतों में चोरियां करवा रहे थे, उनके नौकरों को भी तंग कर रहे थे। मुरारी दाऊ अचानक कल्याण भवन जा पहुंचे और दाऊ दुखमोचनसिंह को समझा दिया कि कल्याण भवन की दीवारें ढह रही हैं, उन्हें सम्हालो, उन की मरम्मत करवाओ—मुझ से होड़ करने में, मुझे नुकसान पहुंचाने में अपना समय, ताकत और पैसा बर्बाद मत करो। यह नंगी सच्चाई, कि मुरारी दाऊ अपने को नए जमाने के अनुसार ढाल चुके हैं और उन के पास ऐसा दिमाग भी है जो पैसा खर्च करने का सही ढंग जानता है, दाऊ दुखमोचनसिंह के लिए बहुत कड़वा घूंट था। गम गलत करने के लिए उन्होंने शराबखोरी शुरू कर दी थी।

उस के बाद हम लोगों को करतरा छोड़ना पड़ा था। तब से आज तक हम करतरा नहीं गए थे। वहां से दानीपुर आते लोगों से हमारी मुलाकात होती तो वे उड़ते समाचार दे जाते। ये समाचार ऐसे थे, जो हमें न मिलते तो भी हम उन की कल्पना कर सकते थे। दानीपुर अनाज की मंडी थी। जो भी आता, बजार करने आता। किसी के पास इतना समय न होता कि चैन से बैठ कर ददा को सारे समाचार दे—जैसा कि इस समय रामलखन दे रहा था।

इतना तो मैं भी मानूंगी कि करतरा से आते लोगों से हम लोग अपनी ओर से भी थोड़ा कतराते थे। वे लोग मिलते ही पूछ बैठते थे—"का करत हस इन दिनों ?" ददा को यह बताते बड़ी पीड़ा होती कि वह बीड़ी के कारखाने में काम करते हैं।

"क्यों ? सुतन्तर धन्धा नहीं करे ?"—वे पूछ बैठते। उन के कहने में ताना घुला होता। विष-बुझे तीर सहने की हिम्मत ददा में नहीं थी। इसी से करतरा से विदा लेने के बाद हम लोग वहां कभी नहीं गए थे। वैसे कई बार दिल में हूक उटती कि जा कर कुछ दिनों के लिए वहां रह आए, सबसे मेल-मुलाकात कर आए, मगर उनके मखौल उड़ाते चेहरे याद आते ही हमारा मन डूब जाता।

शुरू-शुरू में मुझे बहुत सपने आए थे कि मैं कल्याण भवन के ढोर चरा रही हूं और ददा पीछे-पीछे चलते हुए बंसी बजा रहे हैं। दानीपुर आ कर उन्होंने बहुत कम बार बंसी बजाई थी। उन के भीतर की कोई चीज, भोली सी कोई चीज़, जो उनसे बंसी बजवाती थी, अब मरती जा रही थी। दानीपुर के शहरी वातावरण में हम खो गए थे। उलझ गये थे कहना ज़्यादा ठीक होगा।

मुरारी दाऊ के ग्वाले ने उस दिन एक और बात बताई थी। मुरारी दाऊ की बड़ी हवेली नीमतरा में थी। नीमतरा में लोहे की खदान का पता चला था और सरकार वहां बड़े पैमाने पर लोहा गलाने का कारखाना खोलने जा रही थी। नीमतरा गांव कुछ ही दिनों में बड़ा शहर बन जाने वाला था। सरकार ने मुरारी दाऊ से पुछवाया, क्या आप अपनी हवेली बेचना पसंद करेंगे ? सरकार उसमें एक आलीशान होटल खोलना चाहती थी। मुरारी दाऊ तो खुद ही हवेली के खरीदार की खोज में थे। उतनी बड़ी हवेली में उन के छोटे भाई अपने कुटुम्ब के साथ केवल इसलिए रहते थे कि हवेली भुतही न हो जाए लेकिन उनके रहने पर भी हवेली भुतही लगती थी। हर साल उसकी पुताई व दीगर मरम्मत में मुरारी दाऊ का काफी रुपया उठ

जाता था।

मुरारी दाऊ की जगह यदि हमारे दाऊ, माफ कीजिएगा, भूल हुई–उन्हें अब हमारे दाऊ क्यों कहा जाए? अब हम किसी भी तरह उन के आसरे पर नही थे। हाँ, तो यदि मुरारी दाऊ की जगह दाऊ दुखमोचन सिंह होते, तो क्या वह हवेली बेचने के लिए राज़ी हो जाते? नही। वह इसे बहुत बड़ा अपमान समझते। कल्याण भवन की फुलवारी उन्होंने बेच दी थी, यही कम अचरज की बात नही थी। शायद जुए में वह बहुत बडी रकम हार गए हों और उसका भुगतान न होने पर कोई ऐसी आफत उन पर आ पड़ने वाली हो, जिसकी कल्पना उनके सिवा और कोई न कर सकता हो। जो हो, फुलवारी बिकने के दुख ने उन्हें कितनी जल्दी शराबख़ोर बना दिया था, यह किसी से छिपा नही था।

मुरारी दाऊ मे झूठे मान की ऐसी भूख न थी। उन्होंने हवेली बेच दी थी और चैन की सास ली थी, जैसे कोई बला सिर से टली हो।

"मुरारी दाऊ बहुत समझदार हवें।" —उनका ग्वाला बुदबुदाया था—"कोनू (किसी) से डरना तो जानत ही नहीं। जो भी काम करयें दूर की सोचकर करयें।" बिलकुल सच था उसका कहना। मेरी निगाह मे तो यही कम बात नही थी कि उन्होंने अचानक करतरा आ कर दाऊ दुखमोचनसिंह की छाती छलनी कर दी। उसके बाद दाऊ दुखमोचनसिंह ने उन के खेतों में चोरी करवाना, खलियानों मे आग लगवाना, नौकरों को पिटवाना आदि रोक दिया था। शायद यह सब उन्हे फिज़ूल लगने लगा हो।

रामलखन की हसी ने मेरे विचारो की नीद तोड़ दी। वह हसता हुआ कह रहा था—"बाबू जी कम सनकी थोड़े न हवें।"

मैं चौंकी। बडी बहू अपने पति की जो तारीफ किया करती थी उस के अनुसार वह चाहे जो हों, सनकी नही थे।

रामलखन ने बताया कि मुरारी दाऊ ने कल्याण भवन मे जो तानो की बौछार की थी, उसकी परवाह शुरू-शुरू में तो बड़े बाबू ने नहीं

की थी, पर एक दिन जैसे अचानक वह चौंके कि अरे, यह क्या ? हम पर इतना कीचड़ उछला था ? और उनकी सनक जाग गई थी । सनक, जिसके शिकार दाऊ दुखमोचनसिंह थे—मुरारी दाऊ से झगड़ने की, उन्हें हर तरह से नुकसान पहुंचाने की सनक ।

"मझले अऊ (और) छोटे बाबू ने बड़े बाबू को समझाए के बहुत कोशिश करिस कि गड़े मुर्दे उखाड़ने से का फायदा, लेकिन सनक काला (किसे) कहथैं ?"—रामलखन बोला—"अचानक मन में उठथैं और कीड़े की तरह खाने लगथैं । बड़े बाबू नहीं मानिस ।"

बड़े बाबू दानीपुर में अपने एक बचपन के मितान के यहां ठहरे हुए थे । उसका नाम केसरीसिंह था । केसरीसिंह और मुरारी दाऊ में खटपट थी । चूंकि मुरारी दाऊ चुनाव लड़ने वाले थे, उसने तुरंत करतरा से बड़े बाबू को बुलवा लिया था ।

केसरीसिंह को मैं पहले से जानती थी, लेकिन मुझे यह नहीं मालूम था कि वह बड़े बाबू का मितान भी है । दानीपुर में उसके जितना तीतर का शौकीन कोई नहीं था । दोपहर, शाम, सुबह—सिवा रात के हर समय तीतरों के साथ देखा जा सकता था । उसकी एक किरियाने की दुकान थी, जिसे नौकर चलाते थे । नौकरों पर निगरानी का काम उसने अपनी औरत को सौंप रखा था, जो कभी-कभी खुद भी दुकान पर बैठती थी । उसे दुकान की कोई चिन्ता नहीं थी । तीतरों के साथ कभी-कभी वह टहल के लिए अपने खेतों की ओर चला जाता, लेकिन वहां भी फसल की ओर ध्यान देने की बजाय वह तीतरों के लिए ऐसी जगहों की खोज में ज्यादा लगा रहता जहां उन्हें खाने के लिए कीड़े मिल सकें ।

"ओच् ! ओच् ! बच्चा ! बच्चा ! ले···दाना ले···आल्ले !"—आगे-आगे तीतर चलते, पीछे-पीछे दोनों हाथों में खाली पिंजरे उठाए हुए वह तीतरों को टेरता जाता । उसके पास पैसा काफी था, लेकिन तीतर के प्यार ने उसे दीवाना बना रखा था—कभी भी मैं ने उसे सुथरे कपड़ों में नहीं देखा था । पता नहीं, वह कितने दिनों में नहाता था । मैं सहेलियों से

मजाक किया करती कि नहाते समय भी वह कोई रीवर बगल में दबाए रहता होगा। उस के बाल अक्सर सूखे रहते। तेल न डालने की कंजूसी वह करता हो, सो नहीं, लेकिन रीवर के सिवा उसे और किसी की परवाह ही नहीं थी।

बड़े बाबू उस के यहां आ गए थे। चुनाव होने तक, याने करीब दो माह तक वह यहां ठहरने वाले थे। सारा समय वह मुरारी दाऊ के खिलाफ क्या-क्या करना चाहिए, यही सोचा करते थे। रामलखन को अपने खास अरदली की तरह वह साथ लाए थे।

रामलखन की एक बात मुझे अच्छी न लगी। वह दोनों दाऊ के झगड़े का तमाशा देख रहा था। दिल से बड़े बाबू के साथ नहीं था, लेकिन, जैसा कि खुद उसने ददा को बताया, वह बड़े बाबू की जी हुजूरी करता था। खुशामदखोरी के बल पर ही उस की नौकरी टिकी हुई थी।

रामलखन ने बताया कि दाऊ दुखमोचनसिंह इन दिनों बीमार थे। ठीक होने पर वह भी दानीपुर आने वाले थे।

२५

दो दिनों के बाद सिया फिर दुकान पर आया। इस बार भी उस के साथ परसों वाले दोस्त थे। चने-मुर्रे खरीदने के बहाने वे मुझ से आंखें सेंकने आए थे, समझते मुझे देर न लगी। आज भी सिया झकाझक नए कपड़ों में था। उस ने पान खाया था। उस के दांत भद्दे लग रहे थे। आज उस ने मेरी ओर एक झेंप-भरी मुसकान भी फेंकी।

इस मुसकान का जवाब मैं ने विष-बुझे तीर से दिया। मैं ने पोलका नहीं पहना था। लांग लगी हरी साड़ी का पल्लू वक्ष को ढंक रहा था, एक ओर का कन्धा उघड़ा हुआ था। किसी बहाने मैं आगे को झुकी। पल्लू नीचे झोल खा गया। "चलो! चलो! जल्दी करो, मितान!" सिया की आवाज लड़खड़ा गई और मुझे उस पर तरस आने लगा। कितना लाचार था वह मेरे सामने!

मैं ने ऐसा क्यों किया? मैं न चाहते हुए भी क्यों कर गई ऐसा? मेरी आंखों के सामने ददा का चेहरा घूम गया। वह मेरे ये लच्छन देखें तो चमड़ी न उतार लें? लेकिन नहीं, वह ऐसा नहीं करेंगे। बल्कि वह तो खुद···

जैसे ठाठदार कपड़ों में वह आता था, उस से जाहिर था कि वह गांठ का पूरा है। और उस का चेहरा, उस की हरकतें साफ कहती थीं कि दिमाग उस का खाली है।

मैं ने सोचा था कि अगले दिन वह नहीं आएगा--दिल पर नया घाव झेलने के लिए हिम्मत चाहिए न! लेकिन वह आया। हां, आज उस के साथ पहले से कहीं ज्यादा दोस्त थे। वे हरी मूलियां चबा रहे थे। एक के हाथ में अंगूर भी थे। मैं ने अन्दाजा लगाया, इन मूलियों और

अंगूरों का खर्च मिया ने ही किया होगा। वे आ कर दुकानपर खड़े हुए। मैं ने सिया की ओर देखा। आज उस ने एक बार भी मेरी ओर सीधी आंख न उठाई। मेरे पास कच्ची मूगफलियों का ढेर लगा था। उस की ओर देखता हुआ वह मेरी ओर देखता रहा, फिर दोस्तों के साथ तेजी से चला गया।

"क्यों हिरना, कौन चिड़िया फासत हस तै ?"

मैं चौंक पड़ी। यह मजाक भड़भूंजे ने किया था।

"का ?"—मैं ने गुस्से से कहा।

उस ने फिर से बात दुहरा दी—"मैं ने कहा, कौन शिकार हवै ये?"

सुमीला ने मेरा बचाव किया—"देख गो, हम यहां नौकरी करने आत हैं, तोर मजाक सहने नहीं। कोनू (कोई) आ के हमें घूरये तो तैं मना कावर (क्यों) नहीं करयस ?"

भड़भूंजे की खुली हंसी गूंज उठी। आसपास के लोग इधर देखने लगे।

"वाह रे सुसीला का मिजाज ! हमें डाटत है, देखो भला !"—झांकते चेहरों की ओर ये वाक्य उछाल उस ने उंगली उठा कर बेशर्मी से मेरी ओर इशारा किया—"आख यह लड़ाही, डांट मोला (मुझे) पड़ही। भना कोई इन्साफ हवै ?"

सामने वाला हज्जाम, दाहिनी ओर की पनवाड़िन और सब्जी वाला, बाईं ओर का सन्तरे वाला—सब हंसे। मैं तुनक गई। "ऐ गौंटिया (साहूकार) !"—भट्ठी के कड़ाह में रेत हिलाने का डंडा पटक कर मैं उठ खड़ी हुई। कमर पे हाथ रख कर बोली—"नहीं करनी नौकरी हिया पर। चलो, मोर हिसाब करो।"

"अरे, अरे, नराज होत हस ? चल, आइन्दा नहीं कहूं।"—वह उठ कर मेरे पास आ गया और मिन्नतें करने लगा। वह मुझे खोना नहीं चाहता था। मैं उस की दुकान पर रोज आऊं, काम करूं, उस की

आंखों के सामने बैठी रहूं—यह उसे अच्छा लगता था। मुझे देख कर उसे मानो नशा हो आता और वह ज्यादा जोशीला, हंसोड़ हो उठता। मैं किसी बेवकूफ मर्द को भरपूर आंखों देखूं, यह उसे सुहाया नहीं था। सिया के रोज आने का मतलब वह तुरन्त समझ गया था। फिर सिया की आंखों के भाव भी तो कितने साफ-साफ झलकते थे! मन में घुटता गुबार आज इस मजाक के रूप में सामने आया था।

मैं भी अपनी ओर से भड़भूंजे की दुकान छोड़ना नहीं चाहती थी। यहां मैं काम क्या खाक करती थी, बेगार टालती थी और पैसे लेती थी सुसीला से भी ज्यादा! दुकान से उठते-उठते एकाध आने की मूंगफली या चने धोती में बांध लेना—बिल्कुल डाका डालने की तरह—मेरे लिए साधारण बात थी।

थोड़ी मनौवल करवा कर मैं फिर से भट्टी की गर्म रेत हिलाती हुई मूंगफलियां भूनने लगी।

सियाराम तीन दिनों तक दिखाई न पड़ा तो मेरे मन में थोड़ा खटका हुआ। मैं जान चुकी थी कि वह कायर था। कहीं मेरे रूप से वह डर तो नहीं गया? मेरे प्यार के हाव-भाव, जो नकली थे, उस ने जरूर पहचाने होंगे और वह घबरा गया होगा। लेकिन शक को विश्वास ने हरा दिया। हां, सचमुच मुझे विश्वास था, सिया मेरे जाल से छूट कर नहीं जा सकता। चौथे दिन मैं ने उसे हटरी बजार के पिछले छोर पर पकड़ा, जहां मछलियां बिकती थीं। बिल्कुल अचानक मैं ने पीछे से आवाज लगाई—"सिया!" उस ने मुड़ कर देखा तो उस का मुंह खुला का-खुला रह गया। वह सोच भी न सकता था कि मैं खुद उसे बुला सकती हूं। इस समय वह दोस्तों के साथ नहीं, अकेला था। मैं उस के पास आई। बजार की भीड़भाड़ वहां नहीं थी। दुकानदारों ने हमारी ओर खास ध्यान न दिया।

"देख मण्डल (महाशय), दुकान पर आ के मोला (मुझे) घूरने के आदत तैं पार ले हस, ए ठीक नहीं हवै। बात करनी हो, तो कल सीवनाथ

वाले पीर के पत्थर के पास ४ बजे मिलवैं।"

वह बच्चों की तरह खुश हो गया और हें-हें करने लगा। मैं फिर ज्यादा न रुकी। इतना ही काफी था। बिना उस से विदा मांगे मैं वापस लौट पड़ी।

भड़भूंजे ने कई बार वादे किए थे कि वह दुकान में चूना पुतवा देगा, लेकिन उस के वादे हवाई थे। भट्ठी के धुएं के कारण दीवारों पर कालिख की इतनी मोटी पर्त जम गई थी कि वह छोटे-छोटे कतरों में नीचे झड़ती रहती। मेरे बाल उन कतरों के कारण बहुत जल्दी गन्दे हो जाते। हर इतवार उन्हें मिट्टी से धोना पड़ता जिस से मैं बहुत ऊब जाती।

दूसरे दिन मैं और सुसीला दुकान पर काम करने पहुंचीं तो धूप का कच्चापन अभी बाकी था। भड़भूंजे ने आ कर अभी-अभी दरवाजे खोले थे। जिस पीढ़े पर वह बैठता था, उस के आसपास चूहों की बीट बिखरी हुई थी। हमें देखते ही भडभूंजा हंसने लगा और बीट पर झाड़ू फेरता हुआ चूहों को गालियां देने लगा। उसी समय अचानक ऊपर से बहुत सारी कालिख उस की झुकी पीठ पर गिर पड़ी। वह बच्चों की तरह मचल कर यों खड़ा हो गया और ऐंठने लगा मानो उस पर कोई बहुत बडा वज़न गिर पड़ा हो। उस की इस हरकत पर मैं हंस पड़ी क्योंकि उस ने ऐसा इसलिए किया था कि मैं हंसूं। मैं उस की कमजोरी बन चुकी थी और यह बात आसपास की दुकानों में भी फैल गई थी।

दुकान में दो भट्ठियां थीं जिन पर मैं और सुसीला अलग-अलग बैठती थीं। मैं ने देखा कि वह सुसीला की भट्ठी में झांक कर बंदर की तरह आंखें मटका रहा है। अचानक उस का मुंह बहुत ज्यादा खुल गया और उस के गले से हँसी की आवाज निकलने लगी।

"का हुआ ?" मैं ने पूछा।

"खुद देख लो।" उस ने कहा। मैं ने आगे जा कर भट्ठी में झांका। भीतर चूहे के छोटे-छोटे, गुलगुले, अंधी आंखों वाले कई [बच्चे कसमसा

रहे थे। मैं ने मुसकरा कर भड़भूंजे की ओर देखा। वह मुंह बना कर बोला—"नुकसान।"

"कईसे ?"

"यह भट्ठी अब कईसे जलही ?"

"मैं अभी इन मुसवों को निकाल फेंकत हौं।"—मैं भट्ठी में हाथ डालने लगी। "ठैरो, ठैरो," कहता हुआ वह मेरी ओर लपका। मैं ने हाथ बाहर खींच लिया। "कावर (क्यों) पाप करत हस ?"—कहते-कहते उस ने मेरा कंधा पकड़ लिया। मुझे छूने का अच्छा बहाना मिला था उसे। मैंने हल्के झटके से उस का हाथ हटाया और सुसीला की ओर देखा। वह मुसकराई। उस मुसकराहट में एक नया ही तीखापन मैं ने महसूस किया। मैं ने परवाह नहीं की और भड़भूंजे से बोली—"आज मन में इतनी दया कईसे उपज गे ?"

वह मशीन की तरह बड़बड़ाने लगा कि वह शुरू से ही दयालु रहा है लेकिन दुनिया में कोई उस की कद्र करने वाला नहीं है। उस ने ऐलान किया कि वह तब तक इस भट्ठी को नहीं जलाएगा जब तक ये बच्चे बड़े हो कर चले नहीं जाते। जाहिर था कि वह अपने को बहुत भला आदमी साबित करना चाहता था। मैं चुपचाप दूसरी भट्ठी चेताने में जुट गई।

"मैं का काम करौं ?"—सुसीला ने भड़भूंजे से पूछा तो वह चिढ़ता हुआ-सा बोला—"वापिस घर जा !" फिर वह हंसने लगा, मानो वह चिढ़ा न हो बल्कि उस ने मजाक किया हो, क्योंकि उसे डर लगा होगा कि सुसीला बुरा मान सकती है। उस ने कहा—"तैं हिरना के साथ वो भट्ठी पे बईठ।"

थोड़ी देर बाद हम दोनों आमने-सामने बैठी, एक ही कड़ाह में डंडे चलाती हुई मूंगफलियां भून रही थीं।

आज शाम को चार बजे···

एक मीठी सुरसुरी मेरी रग-रग में दौड़ गई। सिर्फ···कल वह किस..

तरह खुश हो गया था और बच्चों की तरह हें-हें करने लगा था। उस का झेंपना मुझे जरा भी अच्छा न लगा था। मेरी आंखों के सामने उस का होंठ-खिंचा चेहरा उभरा। जाने क्यों, मुझे लगा, उस के मुंह में चूहे जैसे नुकीले दांत थे···

खर्र ! खर्र !

कड़ाह में मेरे हाथ ज्यादा तेजी से चलने लगे। सुसीला ने पूछा, "का सोचत हस ?" मैं थोड़ा-सा मुसकराई—"कुछ नहीं।"

अगर सुसीला जान जाए कि आज शाम को चार बजे मैं···उस को कैसा लगेगा ? वह सिया को पसंद नहीं करती लेकिन···हां, सिया का शिकार करना वह जरूर पसंद करेगी। मेरी ही तरह वह भी पैसों की भूखी है···सुसीला को आग लग जाएगी···जल मरेगी सुसीला···मेरे होंठ मुसकराहट से थोड़े खिंचे।

"कुछ तो बात जरूर हवै।"—सुसीला ने फिर से पूछा था और मैं चौंक गई थी—जैसे नींद से जगा दी गई होऊं, अचानक।

"कच्छू नहीं।" मैं ने कहा और भड़भूंजे की ओर देखा। वह मेरी ओर ताक रहा था। आंखें मिलते ही वह दूसरी ओर देखने लगा।

खर्र ! खर्र !

सिया ने मुझे अच्छी लड़की नहीं समझा होगा। कोई अच्छी लड़की यों किसी को नहीं पुकारती। क्या वह सीवनाथ नाले पर मिलने नहीं आएगा ?

नहीं आएगा।

आएगा।

नहीं आएगा।

क्यों नहीं आएगा ? वह इतना झेंपा क्यों था ? वह खुश हो गया था। लेकिन मैं क्यों चाहती हूं, वह आए ? ददा का इशारा···ठीक तो है मुझे अपनी चिंता आप करनी चाहिए। सिया को आना चाहिए। मैं न जाऊं ? मैं कितनी खराब हो गई हूं।

करतरा की हिरना जाग रही है। उस की जलती आंखें मुझे घूर रही हैं। मत जा, री !

लेकिन करतरा की हिरना अब है कहां ? अब तो दानीपुर की हिरना जी रही है—पैसों की भूखी। सिया मुझे अच्छी समझे या न समझे—वह है गांठ का पूरा। उस के चेहरे का नया रूप मेरी आंखों के सामने तैर रहा है···

खरं ! खरं !

यह चेहरा मुसकरा रहा है। उस के दांत चूहे जैसे हैं लेकिन उन पर सोना मढ़ा हुआ है। ४ बजे···४ बजे···

यह शोर कैसा है···

४ बजे···

मैं चौंक जाती हूं। भड़भूजा मुझे गालियां दे रहा है—"होस में नहीं है का ?"

मैं समझ नहीं पाती हूं। उस की ओर ताकती हूं। "का हुआ ?" —मैं पूछती हूं।

भड़भूजा हंस पड़ता है—"येल्लो ! इस को कुछ नहीं मालूम !"

मेरी नींद टूट जाती है। मैं देखती हूं, मेरी साड़ी का एक छोर भट्ठी में गिर कर आग पकड़ चुका है लेकिन अब बुझा दिया गया है।

मुझे पता भी न चला था, कब छोर ने आग देख ली। ४ बजे···जा ···मत जा···

भड़भूंजे ने जलते छोर के ऊपर, जमीन के साथ थप्पड़ें मार कर उसे बुझाया था। वह मुझे प्यार से कोसता हुआ गालियां दे रहा था। मुझ पर एहसान कर के वह बहुत खुश था ; मैं ने उसे धन्यवाद भी न दिया। सुसीला कुरेद-कुरेद कर कुछ पूछ रही थी। मैं ने सुना ही नहीं। दांत चूहे के···सोने से मढ़े···

हिरना सावरी जागे या सोए, हिरना को घूरे या न घूरे—हिरना अपना काम कर रही है···जा···जा···खरं ! खरं ! घड़ी के कांटे, टिक

टिक टिक, चार बजेंगे और···

मैं जाऊंगी।

अचानक मैं ववंडर में से बाहर निकल आई। वहाँ जाना अच्छा हो या बुरा, जाना तो है ही। मन में सहसा विश्वास धधक उठा, सिया जरूर आएगा। न आने की हिम्मत नहीं हो सकती उस से।

तीन बजे भी काफी तेज धूप थी। शायद काफी तेज न रही हो,लेकिन मुझे लग रही थी। भड़भूंजे से दो-चार मीठी बातें कर मैं तीन बजे ही दुकान से उठ गई थी। "कहाँ जात हस ?" सुसीला ने पूछा था।

"घर।"

"का बर (क्यों) ?"

"तबीयत बने (ठीक) नहीं हवै।"—मैं बाहर निकलते-निकलते बोली थी। मैं बहाना कर रही हूं,सुसीला समझ तो गई होगी। उंह, समझने दो···

खेतों की मेढ़ों पर से होती हुई मैं सीवनाथ नाले की ओर बढ़ रही थी। हवा भी काफी तेज थी। मेरा आँचल उड़-उड़ जाता। जैसे हवा भी मुझे धकेल रही थी···जा···जा···मेरे बाल बिखर गए। मुझे एक बार शक हुआ, बिखरे बाल अच्छे न लगेंगे, फिर अचानक शक पुंछ गया और लहराती हवा आईने की तरह हो गई, जिस में मैं अपनी बिखरी लटों की खूबसूरती देख सकती थी।

मैं ने उसे दूर से देखा। वह रेशमी पोशाक में था जो दूर से धूप में झिलमिला रही थी। पहले उसकी पीठ मेरी ओर थी, वह एक पेड़ के तने से टिक कर खड़ा था। फिर उसका चेहरा मेरी ओर हो गया। मैंने सोचा कि वह मुझे देखकर हाथ हिलाएगा, तब इधर से मैं भी हाथ हिलाऊंगी। लेकिन उस ने हाथ न हिलाया। मुझे थोड़ा अचरज हुआ, उखड़ा-उखड़ा-सा लगा।

न जा···न जा···

लेकिन अब वापस कैसे लौटूं? सिया ने मुझे देख लिया है। वह तने

को टेक छोड़ कर दो कदम आगे आया है। और वापस लौटूं भी क्यों? मैं खूब सोच-समझ कर यहाँ आई हूं। जा'''जा'''या'''

मैं उस के करीब पहुंचती गई और उसके चेहरे की रेखाएं साफ होती गईं। वह मुसकरा रहा था, वही जबर्दस्ती की, बच्चों जैसी हे-हें'''घोंचू!

एकाएक मैं समझ न पाई; सिया को क्या कहूं। नमस्ते करूं? नहीं वह ज्यादा शहराती तरीका होगा। क्या यों ही पूछ लूं, कैसे हो? नहीं यह भी अच्छा न लगेगा। फिर? मुझे कुछ सूझ नहीं रहा था। मैंने बातचीत की शुरुआत सिया पर ही छोड़ दी। वह नमस्ते करेगा, मैं जवाब दे दूंगी। वह 'कैसी हो?' पूछेगा, मैं 'अच्छी हूं' कह दूंगी।

मेरे कदम धीमे पड़े, फिर तेज हो गए। मेरी धड़कन बढ़ चली हो, ऐसी बात नहीं थी, लेकिन मैं बुरी तरह परेशान हो रही थी। सिया भौंचक लग रहा था। उसके चेहरे पर मुसकान की एक भी रेखा न उभरी। मैं ने उसकी ओर मुसकान फेंकी ताकि जवाब में वह मुसकरा सके, लेकिन फिर भी वह न मुसकराया। मुझे बहुत अटपटा लगा।

शायद सिया की भी वही हालत है, जो मेरी है—वह भी बातचीत की शुरुआत कैसे हो, समझ नहीं पा रहा है, मेरी ओर ताक रहा है।

अब मैं इतनी करीब आ गई थी कि मैंने उसके गले के गट्टे को ऊपर-नीचे होते देखा। वह थूक निगल रहा था।

"कईसे गौंटिया, बने-बने?" आखिर मुझे ही पूछना पड़ा। उस की खिंची मुसकराहट बेकार सी हंसी में बदल गई और उसने बोलकर जवाब देने के बजाए सिर हिलाकर जवाब दिया, हां।

और फिर वही परेशानी—आगे क्या कहा जाए? मुझे सिया पर बहुत गुस्सा आया। बात मैंने शुरू कर दी थी। उसे आगे चलाना उस का काम था। फिर से मैं मुसकराई ताकि वह मुसकराए और कुछ बोले। वह मुसकराया जरूर, लेकिन बोला कुछ नहीं। फिर मुझे ही पूछना पड़ा—"तैं दानीपुर रहथस?"

उसने नहीं में सिर हिलाया, मुसकराया और बोला—"मैं बालीपुर

रहथौं।" कुछ रुका, फिर बोला—"मोर ददा रुपया उधार दे के काम करथें।"

"ए कोती (इधर) आ।" मैं ने कहा और नाले की ओर चली। वह मेरे पीछे-पीछे घिसटा। वह मुझ से काफी दूर रह कर चल रहा था। थोड़ी देर में पीर का पत्थर आ गया। यह पत्थर नाले के बिल्कुल किनारे से लगा शान से खड़ा था। वह कहलाता पत्थर था लेकिन थी वह काफी बड़ी चट्टान।

इस चट्टान के बारे में तरह-तरह की कहानियाँ मशहूर थीं। कहा जाता था, दो प्रेमी थे। दोनों यहीं आकर मिलते थे। प्रेमिका की शादी जबरदस्ती एक बूढ़े जमींदार से करा दी गई। जमींदार ने प्रेमिका के बाप को बहुत पैसा दिया। प्रेमी बड़ा दुखी हुआ। जिस दिन प्रेमिका विदा हुई प्रेमी यहां आया, चट्टान पर चढ़ा और चित लेट गया। निकाला छुरा घुप्प से छाती के पार! उधर प्रेमिका की भी सुहागरात न मनी। पलंग की मसहरी बूढ़े हाथों ने हटाई तो वहां ठंडा, नीला, उस के बुढ़ापे का मखौल उड़ाता, किसी समय का गर्म,खूबसूरत लेकिन अब मुर्दा जिस्म पड़ा था··· एक कबूतर चट्टान से उड़ा, एक जमींदार के रंगमहल से···गुटरूं गूं··· गुटरूं गूं···दोनों आकाश में उठते गए, उठते गए। बादलों के पार दोनों मिले।

दुनिया के सारे कबूतर रात को सो जाते हैं, दो नहीं सोते— वही दो कबूतर। बल्कि वे तो सोते ही नहीं—दिन-रात जागते हैं, प्यार करते हैं। हर आधी रात दोनों यहां आते हैं, इस चट्टान पर बैठते हैं, प्यार करते हैं···गुटरूं गूं···गुटरूं गूं···वे दिखाई नहीं पड़ते, बस, उनकी मस्त आवाज आती है, बिल्कुल साफ, बहरा भी सुन ले।

तब से यह चट्टान पीर का पत्थर हो गई। मैंने कभी उन अनदेखे कबूतरों की आवाजें नहीं सुनी थीं, लेकिन जब सब कहते हैं तो वे होती जरूर होंगी।

मैं पीर के पत्थर पर हाथ टिका कर अदा से खड़ी हो गई। सिया

सीधे मेरी ओर नहीं देखता था—कभी नाले के पानी को देखता, कभी आकाश को, कभी धरती को, कभी मुझे—हालांकि वह केवल मुझे देखना चाहता था।

बीच-बीच में जो मौन छा जाता, वह बड़ा दुखदायी-सा लगता। उसे मुझे ही तोड़ना पड़ता। मैं थोड़ी ही देर में ऊब गई। नाले का पानी ज्यादा गंदा नहीं था, लेकिन अब बहुत गंदा लगने लगा। काला, घिनौना पानी···खदबद···खदबद···

मैंने उसे जेब में हाथ डालते देखा। उसने नकली सफेद मोतियों की एक माला निकाली और कांपते हाथों से मेरी ओर बढ़ाई। मैंने उस की बुदबुदाहट सुनी—"तोर बर हवै (तेरे लिए है)।" मैंने थोड़ी अनाकानी के बाद माला ली। उसकी उंगलियां मेरी उंगलियों से छू गईं। वह सिहरा।

सूरज नीचे लुढ़क रहा था और मैं चाहने लगी थी, हमारी यह पहली मुलाकात जल्दी पूरी हो जाए। जब बातें केवल बातें करने के लिए की जा रही हों, वे चुभने लगती हैं। मैं रह-रहकर यह सोचने लगती थी कि आज के बाद हमारी जो मुलाकातें होंगी, वे कुछ बेहतर होंगी। वे उबाएंगी नहीं। लेकिन पहले आज की मुलाकात तो पूरी हो···हम दोनों काफी देर से खामोश थे और हमारे बीच कम से-कम एक गज का फासला था।

"कल मिलवं ?" मैंने पूछा। उसने हां में सिर हिलाया।

"कहां ?"

वह सोच में पड़ गया। बोला—"यहीं पे ठीक नहीं रहही ?"

"कितने बजे ?" बड़े छोटे-छोटे सवाल पूछ रही थी मैं।

"चार बजे ?"

"नहीं। साढ़े पांच बजे रखो। पांच बजे मोर छुट्टी होथै। पांच से जरा जल्दी चल देहूं तो साढ़े पांच तक पहुंच जाहूं।"—मैंने कहा। पीर का पत्थर दुकान से डेढ़ मील से कम दूर नहीं था।

सिया मुसकराया। लगा, शायद वह पहली बार सच्ची मुसकान मुसकराया। बोला—"तें नौकरी छोड़ दे।"

"क्यों ?"

"अब तोला (तुझे) का कमी हवै ? सब मैं ल दिहूँ।"

चूहे के दांत···सोना···

मैं हंसी···"नहीं।···मोला (मुझे) कुछ नहीं चाहिए।"

"लेकिन मैं तो देना चाहथौं।"

" अकेले के चाहने से का होथै।" मैं ने जाल बिछाया—"जबर्दस्ती थोड़े न देवै।

हम दोनों पगडंडी पर वापस लौटने लगे थे। मैंने पीछे मुड़ कर पीर के पत्थर की ओर देखा। पत्थर के पीछे आकाश का सिंदूरी फैलाव··· बादलों के कुछ बूढ़े टुकड़े···

एक जगह पगडंडी की दो जीभें हो गई थीं। एक जीभ बालीपुर की ओर जाती थी। मैं चलते-चलते रुक गई। रुकने का मतलब साफ था कि सिया को यहां से अपनी राह पकड़नी चाहिए। वह समझ गया। "अच्छा मैं चलथौं।" कह कर उस ने मेरी ओर पीठ कर दी। फिर उस ने एक भी बार मेरी ओर न देखा और पगडंडी पर आगे चलता गया। सूरज की आखिरी धूप उसके झिलमिल कुरते पर पड़ रही थी, कौंध-कौंध जाती थी। मैं देखती रही। अब वह मुझे उतना बुरा नहीं लग रहा था। करीब होने पर उस से बातें करनी पड़ती थीं। वापस लौटते समय मैं सोचने लगी, क्या सिया मुझे इतना बुरा लगता है कि उस से बोलना रुचे भी न जवाब चाह कर भी मैं हाँ में देन कर सकी। उसके चेहरे की कोई तराश मुझे पसन्द नहीं थी—हिरना क्यों किसी घोंचू को पसंद करे? बुलाए? बातें करे? लेकिन इस 'क्यों ?' के सामने आने की गुंजाइश ही अब कहां थी। मैंने उसे पसन्द किया था—तभी तो यह माला मेरे गले में···

जो हुआ, तोड़ कर फेंक दूं इन नकली मोतियों को। दोनों हाथ उठे और माला पर भिच गए। केवल एक झटका···मेरी धड़कन बढ़ गई

मेरे गाल फटने लगे…एक झटका…केवल एक…लगता क्यों नहीं ? केवल एक…

उल्टे मेरी उगलियां मोतियों पर कस गईं । हैं, जैसे उन पर डाका पड़ने वाला हो…जाने क्यों, मैं सोच रही हूं, यह माला कम-से-कम और ज्यादा से ज्यादा कितने की होगी ।

केवल एक झटका…

…कभी नहीं लगेगा क्या ?

मेरे कदमों में तेजी आ गई है । शाम खोखली हो गई है, रात का बचपन मरने की तैयारी में है । डेढ़ मील जमीन मेरे पैर रौंद चुके हैं । घर करीब ही है—दो या तीन नुक्कड़ों के बाद ।

मेरे हाथ धीरे से गले का हार उतार लेते हैं। नहीं दाई-ददा इसे नहीं देख सकते। देखेंगे तो पूछेंगे—'किस ने दिया ?' मैं हार को सावधानी से टेंट में बांध लेती हूं । कमर में खोंस लेती हूं । चुपके से इसे अपनी पेटी में छुपा दूंगी । पेटी में मेरा ताला लगा रहता है । जब से मैं कमाने लगी हूं, मेरी पेटी दाई-ददा ने खोल कर कभी नहीं देखी । देखना चाहें भी तो देखने थोड़े दूंगी—भले ही पेटी में कुछ भी न हो ।

और अब तो पेटी में 'कुछ' है । दिन-ब-दिन यह कुछ ज्यादा होता जाएगा । फिर किसी दिन मैं खुद पेटी खोल दूंगी और सिया का नाम बता दूंगी कि सिया ऐसे बाप का इकलौता बेटा है जो बहुत धनवान है, जिसे सूद से ही महीने की सैकड़ों की आमदनी है…और ददा की शर्त —सिया घरजमाई बनने को तैयार…

रात को मुझे नींद न आ सकी । सन्नाटे में झींगुरों की तान छिड़ी हुई थी, आकाश का नीला रंग बहुत गहरा, साफ और कुछ-कुछ पारदर्शी-सा लग रहा था । चांद छरहरा था ।

कभी मैं यों ही मुसकरा पड़ी, कभी यों ही उदास हो जाती । सिया को जीतने की हवस मेरे भीतर जागती, कभी दिल यों ठंडा लगता जैसे बर्फ का टुकड़ा हो। और मेरी आंखों के सामने एक पेटी घूम जाती—

सौगातों से चकाचक पेटी और मुझे लगता कि सिया चाहे जितना घोंचू हो और मैं उसे चाहे जितना नापसंद करती होऊं, चाहूं तो मैं उसे पसंद कर सकती हूं। वह मेरा दीवाना हो जाएगा, मेरे लिए सब कुछ करने को, मर जाने को तैयार हो जाएगा। घरजमाई बनना तो मामूली बात है। वह मेरे सामने केवल हार सकता है...

किसी तरह नींद अ[illegible]।

२७

ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए, सिया की नई कमजोरियां मेरे सामने आती गईं और कई बार मैं आश्चर्य करती कि इस सिया से मेरी बोलचाल अभी तक बंद कैसे नहीं हुई है।

हम लोगों की मुलाकातें अक्सर होती रहतीं और जिस तरह वह प्यार-भरी हरकतें करता उस से यह साफ पता चल जाता कि वह पहले से सोच कर आया है कि कौन-सी हरकत कैसे और कब करेगा। कभी-कभी एक हरकत के बाद दूसरी हरकत वह भूल जाता। वह उसे याद करने लगता और उस के हाथ लटक जाते। याद आने पर वह मुसकराने लगता और मुझे इतनी चिढ़ होती कि इसे मुक्का मार कर भगा दूं।

कस्तूरा की हिरना शायद यह कर लेती, लेकिन शहर ने उस हिरना को गहरी नींद सुला दिया था। सिया के पीछे जो हिरना भाग रही थी वह कोई और हिरना थी। सिया कभी-कभी ख्वामख्वाह मुझ से झेंप जाता और मुलाकात को खत्म करने के लिए बेताब हो उठता। दूसरे दिन वह मेरे लिए कोई सौगात जरूर लाता। इस तरह वह अपनी झेंप को जीतना चाहता था।

आकाश आज के जितना काला मुझे कभी नहीं लगा था। सारे बहुत धुंधले थे और चांद नहीं था। मैं घर की ओर लौट रही थी। मेरे मन में तूफान ठाठें मार रहा था। कभी मैं काफी जल्दी चलने लगती, कभी बहुत धीमे। जल्दी चलती तो लगता, जल्दी चल रही हूं; धीमे चलती तो लगता, धीमे चल रही हूं। जमीन में, हवा में, पेड़-पौधों में शिकायत भरी हुई थी।

मैं ने बाएं हाथ से दाहिनी हथेली सहलाई। वह अभी तक जल रही थी। कितनी जोर से थप्पड़ मारा था मैं ने! सिया लड़खड़ा कर गिर

पड़ा था और उस के दांतों से खून गिरने लगा था। मैं ने उसे तसल्ली देने की जरूरत न देखी थी। तुरन्त मैं वापस मुड़ कर लौट पड़ी थी।

अगर मेरे पास कोई हथियार होता तो आज शायद मैं सिया पर वार कर बैठती। बेवकूफ ! घोंचू !

मैं उस के लिए गंदी गालियां बड़बड़ा रही थी। पहले मैं गालियां बकती थी तो लगता था, सारी गालियां सिया तक पहुंचने से पहले ही लौट आई हैं और मुझ पर बरस रही हैं, लेकिन आज मेरी गालियां लौट नहीं रही थीं।

वेश्‌···

उफ़ ! सिया ने क्या कहा था मुझे ! वेश्या !

मेरा निचला होंठ दांतों में भिच गया। अभी वह कट जाएगा और मुंह में खून का स्वाद भर जाएगा। मैं ने गहरी सांस ली तो फेफड़ों में जैसे सड़े चमड़े की बदबू उठी···

क्या मैं···क्या मैं···

"रोगहा !" मैं ने गाली बकी—रास्ते के पत्थर से मेरा अंगूठा टकरा गया था। कसूर मेरा था जो मैं यों अंधी हो कर चल रही थी—मेरा ही कसूर था जो मुझे इस घिनौने शब्द का सामना करना पड़ा। मुझे पत्थर को गाली क्यों देनी चाहिए ?

लेकिन इस 'क्यों' की मुझे परवाह नहीं थी, क्योंकि मैं खूब गालियाँ उगलना चाहती थी और उगल रही थी। उस ने कितना भद्दा मजाक किया था मेरे साथ !

आज पहले से तय किए अनुसार सिया मुझ से उसी पीर के पत्थर के पास मिला था। मुझे देखते ही वह शरमा गया था और मैं समझ न पाई थी कि इतनी मुलाकातें हो चुकने के बावजूद इसे क्यों शरमाना चाहिए।

और बातों-ही-बातों में···

हां, यही कहा था उस ने, वेश्‌···! कुछ झेंपते हुए, कुछ गर्व के साथ

···उस ने नही सोचा था, मैं उसे थप्पड़ मार दूगी। शायद अपने अनुसार वह कोई बहुत अच्छा मजाक कर रहा था।

सिया अपने बदचलन दोस्तों के बारे में बातें करने का बहुत शौकीन था। जहा तक मैं उसे समझ पाई थी, सिया खुद बदचलन बनना चाहता था, लेकिन उस के पास वैसा साहसी दिल नही था। अकसर वह उन दोस्तो के बारे मे मुझे बताया करता जो हर तीसरे-चौथे दिन वेश्याओं के कोठे आबाद करते थे। जब सिया मुझे बताता कि वह एक भी बार किसी वेश्या के पास नही गया, तो मुझे समझ में न आता कि सिया को इस का दुख है या नही। और आज···आज उस ने कहा कि वेश्याओ के पास जाने की उसे जरूरत भी क्या है—मैं जो उसे मिल चुकी हूं।

तमाचा पड़ते ही वह किस बुरी तरह लड़खड़ा कर गिर पड़ा था!

क्या मैं सिया के लिए केवल वासना शान्त करने का जरिया हू?

मेरे मुह में कड़वाहट भर गई। मैं चाहती थी, इस सवाल का जवाब 'नहीं' मे आए, लेकिन भीतर उठता गुबार···मेरे पाव···मेरे हाथ···मेरी आंखें···कहा गए सब? मैं कहा हू?

घर पहुची तो रात जल रही थी, आकाश राख हो रहा था।

मैं ने तय किया, अब कभी सिया से नहीं मिलूगी। जो मुझे केवल एक 'चीज' समझता है, क्यों मैं उस के साथ···

लेकिन चूहे के दांत?

रात भर मैं घुटती रही। यथार्थ मेरे सामने नग्न हो कर नाच रहा था। सिया ने ठीक ही तो कहा था। क्या फर्क है मुझ मे और वेश्या मे? वेश्या पैसा मागती है, मैं भी तो···

सुबह ने अपना आसुओ से धुला चेहरा उठाया तो मेरा जी काफी ठीक हो चुका था। मैं 'कुछ' स्वीकार कर चुकी थी—'कुछ' जो करतरा की सावरी को मार कर खा गया था···और दानीपुर की लछमी जी रही थी।

दूसरे दिन मैं तय की गई जगह पर सिया का इतजार कर रही थी।

आज पहला मौका था जब मैं सिया से भी पहले आ गई थी। वह आया। मुझे देखते ही वह दौड़ पड़ा और मेरे पांव पर गिर कर लोटने लगा। मैं ने उसे न उठाया। मन-ही-मन मैं हंस रही थी—अपने पर, सिया पर।

फिर अचानक उठ कर उस ने मुझे चूम लिया। मैं हड़बड़ा गई। उस के शरीर में कितनी ताकत है, मुझे पहली बार पता चला।

"क्यों, किसी से सीख कर आए हुस का ?" मैं ने चुटकी ली। वह झेंप गया और हंसने लगा। कल के तमाचे ने उसे मेरे और पास ला दिया था। रोज से कहीं ज्यादा देर तक हम लोग बातें करते रहे। दूसरे दिन उस ने मुझे तीस रुपयों की एक धोती ला दी। मैं ने मुसकरा कर ले ली। परसों कहा गया शब्द मन में गूंज उठा···वेश्या···पर मुसकान मेरे होंठों से जुदा न हुई।

तो क्या मैं पूरी तरह ?···

अब मैं रोज सिया से जिद करने लगी कि हमें शादी कर लेनी चाहिए। रोज सिया कहता कि आज वह साफ-साफ अपने ददा से कह देगा कि वह हिरना से शादी करना चाहता है, लेकिन रोज उस वेवकूफ का साहस पिघल जाता। रोज वह मुझ से माफी मांगता कि कल वह कुछ भी न पूछ पाया, आज जरूर पूछ लेगा। मैं होंठ काटती।

कितनी असहाय थी मैं !

एकान्त में मैं गहरे विचारों में डूब जाती। सिया के दिए उपहार मुझे चिढ़ाते। उन की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही थी। मेरी पेटी पूरी भर चुकी थी। अब मैं दाई के सामने उसे खोल भी नहीं सकती थी। कोई उपाय न देख कर अब मैं सिया के दिए हुए नए उपहार तो रखती जा रही थी और पुरानों को चोरी-चोरी बेचती जा रही थी।

एक दिन घर लौटी तो मेरी पेटी का ताला टूटा हुआ था और दाई-ददा मेरा ही इन्तजार कर रहे थे।

"कहां गे रहे, बेर्री ?"—ददा ने छूटते ही मुझे गाली दी। उनकी

आवाज के तीतेपन से मैं सहम गई।

"ए सब कौन देत हवे तोला ?"—दाई ने उंगली से पेटी की ओर इशारा किया। अचानक ददा का डर मुझ से दूर रेंग गया। मैं ने सब बता दिया, बेशर्मी से। हां, डरने की क्या जरूरत थी मुझे ? ददा ने खुद जाने कितनी बार इशारा किया था कि मुझे अपनी फिक्र आप कर लेनी चाहिए।

जैसा कि मैं ने सोचा था, मुझे मार नहीं पड़ी, लेकिन ददा की एक विचित्रता मेरे सामने आई। 'अपनी चिड़िया खुद फांस लो', यह दाई-ददा ने ही कहा था, लेकिन वह काम जब मैं कर चुकी तो दोनों बौखला गए थे। दाई का चेहरा कठोर हो गया था। ढीबरी की पीली रोशनी में उस का आधा चेहरा दीख रहा था, आधा अंधेरे ने चाट लिया था।

ददा कोठरी में चहलकदमी कर रहे थे। उन की बीड़ी बल रही थी। उन की पगड़ी खूंटी से लम्बी लटकी हुई थी। मैं ने पगड़ी की ओर देखा। मानो ददा खुद वहां लटक'''मैं ने आखें घुमा ली। बड़ी देर तक हम तीनों चुपचाप बैठे रहे। उस के बाद दो सवाल मेरे सामने आए।

पहला सवाल ददा ने पूछा। मैं ने इस के पूछे जाने की आशा भी की थी। "सिया से पूछ ले हस (लिया है) कि ओला (उसे) घरजमाई बनना पडही ?"

"हां, वह तैयार हवे।"—मैं ने छोटा-सा जवाब दिया।

ददा के चेहरे पर दिलासा मिलने के भाव तैरे।

दूसरा सवाल दाई का था और उस ने मुझे अचरज में डाल दिया। मैं सोच भी न सकती थी कि एक मां अपनी बेटी से इतने साफ शब्दों में यह पूछ सकती है।

"नहीं।" मैं बोली लेकिन मेरी आवाज मे वह नहीं था जो एक सच्ची बात में होता है। इस ढीलेपन से मैं चौंक पड़ी। घबरा कर मैं ने दाई की आंखों में झांका।

आज पहला मौका था जब मैं सिया से भी पहले आ गई थी। वह आया। मुझे देखते ही वह दौड़ पड़ा और मेरे पांव पर गिर कर लोटने लगा। मैं ने उसे न उठाया। मन-ही-मन मैं हंस रही थी—अपने पर, सिया पर।

फिर अचानक उठ कर उस ने मुझे चूम लिया। मैं हड़बड़ा गई। उस के शरीर में कितनी ताकत है, मुझे पहली बार पता चला।

"क्यों, किसी से सीख कर आए हल का ?" मैं ने चुटकी ली। वह झेंप गया और हंसने लगा। कल के तमाचे ने उसे मेरे और पास ला दिया था। रोज से कहीं ज्यादा देर तक हम लोग बातें करते रहे। दूसरे दिन उस ने मुझे तीस रुपयों की एक धोती ला दी। मैं ने मुसकरा कर ले ली। परसों कहा गया शब्द मन में गूंज उठा'''वेश'''पर मुसकान मेरे होंठों से जुदा न हुई।

तो क्या मैं पूरी तरह ?'''

अब मैं रोज़ सिया से जिद करने लगी कि हमें शादी कर लेनी चाहिए। रोज सिया कहता कि आज वह साफ-साफ अपने ददा से कह देगा कि वह हिरना से शादी करना चाहता है, लेकिन रोज़ उस बेवकूफ का साहस पिघल जाता। रोज़ वह मुझ से माफी मांगता कि कल वह कुछ भी न पूछ पाया, आज जरूर पूछ लेगा। मैं होंठ काटती।

कितनी असहाय थी मैं !

एकान्त में मैं गहरे विचारों में डूब जाती। सिया के दिए उपहार मुझे चिढ़ाते। उन की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती जा रही थी। मेरी पेटी पूरी भर चुकी थी। अब मैं दाई के सामने उसे खोल भी नहीं सकती थी। कोई उपाय न देख कर अब मैं सिया के दिए हुए नए उपहार तो रखती जा रही थी और पुरानों को चोरी-चोरी बेचती जा रही थी।

एक दिन घर लौटी तो मेरी पेटी का ताला टूटा हुआ था और दाई-ददा मेरा ही इन्तजार कर रहे थे।

"कहां गे रहे, बेर्री ?"—ददा ने छूटते ही मुझे गाली दी। उनकी

आवाज के तीतेपन से मैं सहम गई।

"ए सब कौन देत हवैं तोला ?"—दाई ने उंगली से पेटी की ओर इशारा किया। अचानक ददा का डर मुझ से दूर रेंग गया। मैं ने सब बता दिया, बेशर्मी से। हां, डरने की क्या जरूरत थी मुझे ? ददा ने खुद जाने कितनी बार इशारा किया था कि मुझे अपनी फिक्र आप कर लेनी चाहिए।

जैसा कि मैं ने सोचा था, मुझे मार नहीं पड़ी, लेकिन ददा की एक विचित्रता मेरे सामने आई। 'अपनी चिड़िया खुद फांस लो', यह दाई-ददा ने ही कहा था, लेकिन वह काम जब मैं कर चुकी तो दोनों बौखला गए थे। दाई का चेहरा कठोर हो गया था। ढीबरी की पीली रोशनी में उस का आधा चेहरा दीख रहा था, आधा अंधेरे ने चाट लिया था।

ददा कोठरी में चहलकदमी कर रहे थे। उन की बीड़ी बल रही थी। उन की पगड़ी खूंटी से लम्बी लटकी हुई थी। मैं ने पगड़ी की ओर देखा। मानो ददा खुद वहां लटक…मैं ने आंखें घुमा ली। बड़ी देर तक हम तीनों चुपचाप बैठे रहे। उस के बाद दो सवाल मेरे सामने आए।

पहला सवाल ददा ने पूछा। मैं ने इस के पूछे जाने की आशा भी की थी। "सिया से पूछ ले हस (लिया है) कि ओला (उसे) घरजमाई बनना पड़ही ?"

"हां, वह तैयार हवै।"—मैं ने छोटा-सा जवाब दिया।

ददा के चेहरे पर दिलासा मिलने के भाव तैरे।

दूसरा सवाल दाई का था और उस ने मुझे अचरज में डाल दिया। मैं सोच भी न सकती थी कि एक मा अपनी बेटी से इतने साफ शब्दों में यह पूछ सकती है।

"नहीं।" मैं बोली लेकिन मेरी आवाज मे वह नहीं था जो एक सच्ची बात में होता है। इस ढीलेपन से मैं चौंक पड़ी। घबरा कर मैं दाई की आंखों में झांका।

हां, सचमुच दाई ने विश्वास नहीं किया था। उस की आंखों में आग जल रही थी जो कह रही थी, तुम झूठी हो।

मैं दूसरी ओर देखने लगी।

क्या बेटी अपनी मां से कुछ नहीं छिपा सकती?

एक जगह भीड देख कर मैं चलते-चलते रुक गई। कोई तमासा वाला होगा, मैं ने सोचा। तमासे मे मुझे बडा मजा आता था। एक वार मैं ने देखा था कि मदारी ने एक लडके को सिर से पाव तक कपड़ा ओढा कर छुरा भोंक दिया। फिर लहूलुहान छुरा घूम-घूम कर भीड को दिखाया। फिर उस ने जाने क्या करामात की कि लड़का कपड़ा हटा कर हसता हुआ खड़ा हो गया और कुलांचें भरने लगा।

जब उसे छुरा भोंका गया था तो मैं डर गई थी, लेकिन उसे जिन्दा देख मैं खुश हो कर हंसने लगी थी। पच्चीस पैसे मैं ने तमासे वाले को दे दिए थे। उस समय मेरे पास उतने ही पैसे थे। कुछ और होता तो शायद वह भी दे दिया होता।

सिया दो दिनो से नही आया था। वह कर्जदारों मे उधार वसूलने के लिए सीतापुर, नीमतरा, बजरंगतरी आदि गांवो के दौरे पर था।

मैं भीड़ में घुसी। यह तमासा नही था, यह तीतरों की लड़ाई थी।

एक ओर केसरीसिह अपने मैले लपड़ों और रूखे वालों के साथ बैठा था। उस की आंखें चमक रही थीं। पास ही पिंजड़े मे एक मोटा तीतर वेचैनी से बन्द था। वह जल्दी-जल्दी अपनी गर्दन इधर-से-उधर, उधर-से-इधर घुमा रहा था।

केसरीसिह को देखते ही मुझे वड़े बाबू और रामलखन की याद आ गई। वे भी जरूर यहीं कहीं होंगे, सोचते हुए मैं ने भीड़ मे देखा तो सच-मुच वे दिखाई पड़ गए। वड़े बाबू सफेद धोती और कुर्त्ते में थे और एक कुर्सी में वैठे पान चबा रहे थे। पास ही साफ-सुथरे कपड़े पहन कर खड़ा रामलखन बीड़ी पी रहा था। उस की पीली पगडी ज्यादा मोटी थी। कान मे लौंग पडे हुए थे जिन्हें मैं दूर से भी देख सकी।

हां, सचमुच दाई ने विश्वास नहीं किया था। उस की आंखों में आग जल रही थी जो कह रही थी, तुम झूठी हो।

मैं दूसरी ओर देखने लगी।

क्या वेटी अपनी मां से कुछ नहीं छिपा सकती ?

एक जगह भीड देख कर मैं चलते-चलते रुक गई। कोई [illegible] वाला होगा, मैं ने सोचा। तमासे मे मुझे बडा [illegible] बार मैं ने देखा था कि मदारी ने एक लडके को सिर से [illegible] ओढा कर छुरा भोक दिया। फिर लहूलुहान छुरा घुमा-घुमा कर [illegible] दिखाया। फिर उस ने जाने क्या करामात की कि [illegible] कर हंसता हुआ खडा हो गया और कुलाचें भरने लगा।

जब उसे छुरा भोंका गया था तो मैं डर गई थी, लेकिन [illegible] देख मैं खुश हो कर हंसने लगी थी। पच्चीस पैसे मैं ने [illegible] दे दिए थे। उस समय मेरे पास उतने ही पैसे थे। कुछ और [illegible] शायद वह भी दे दिया होता।

सिया दो दिनो से नही आया था। वह [illegible] के लिए सीतापुर, नौमतरा, बजरगतरी आदि [illegible]।

मैं भीड मे घुसी। यह तमासा नही था, यह [illegible]।

एक ओर केसरीसिह अपने मैले कपडों और [illegible] था। उस की आंखें चमक रही थीं। पास ही [illegible] बेचैनी से बन्द था। वह जल्दी-जल्दी अपनी [illegible] से-इधर घुमा रहा था।

केसरीसिह को देखते ही मुझे बडे बाबू और [illegible] गई। वे भी जरूर यही कहीं होंगे, सोचते हुए मैं ने [illegible] मुच वे दिखाई पड गए। बडे बाबू सफेद धोती और [illegible] कुर्सी में बैठे पान चबा रहे थे। पास ही [illegible] रामलखन बीड़ी पी रहा था। उस की पीली [illegible] थी। कान मे लौंग पडे हुए थे जिन्हें मैं दूर से [illegible]।

उस के पैर के पास एक दूसरा पिंजड़ा था जिस में दूसरा तीतर बन्द था। यह तीतर भी उत्तेजित था। पिंजड़े की छोटी-सी जगह में वह बौखला रहा था।

भीड़ जब काफी बढ़ गई तो रामलखन बीच मैदान में आया और जोर से बोला—"लेडीस इन जेण्टिलमन ! याने भाइयो अऊ बहनो ! आज आप के सामने दू तीतरों की लड़ाई होही···"

वह थोड़ा रुका। उस ने चारों ओर देखा, मानो यह जानना चाहता हो कि उस का कितना रौब पड़ा। मैं सामने ही खड़ी थी। उस ने मुझे देख लिया और मुसकराया। बोला—"इन तीतरों में से···अह ! अह ! ···ये समझ लो कि एक तीतर दाऊ दुखमोचनसिंह के हवै अऊ दुसर मुरारी दाऊ के हवै।"

जिस तीतर की ओर उस ने 'दाऊ दुखमोचनसिंह के हवै' कह कर इशारा किया था, वह 'मुरारी दाऊ के तीतर' से कहीं ताकतवर था। वह केसरीसिंह के पिंजड़े में बन्द था। केसरीसिंह मक्कार लोमड़ी की तरह थोड़ा हंसा।

"अऊ सज्जनो !"—रामलखन का भासन आगे चला—"अब ये दुन्नो तीतर लड़ाई करहीं।"—कह कर उस ने झुक्कर (जोकर) की तरह अपने मुंह से तीतर की आवाज निकाली।

"सब जानत हैं कि मुरारी दाऊ मुन्सीपाल्टी के पेसीडेण्ट बने बर खड़े होहीं। चुनाओ तो जब होही (होगा), तब होही, लेकिन उस का नतीजा अब्भी आप लोगों को मालूम हो जाही।"—वह कहता रहा—"अब्भी इन दुन्नों तीतरों में लड़ाई होही। अगर मुरारी दाऊ का तीतर हार गिस तो निसचय जान क मुरारी दाऊ चुनाओ में नहीं जीत सकथें। कब्भा नहीं जीत सकथेंएं !"

मैदान छोड़ कर वह किनारे हट गया। फिर उस ने जोर से ललकार लगाई—"उइहीं ! चल्ल मोरे बाज ! कर खातमा !" उस ने पिंजड़े में हाथ डाल कर तीतर बाहर निकाला।

यह 'दाऊ दुखमोचनसिंह का तीतर' था—'मुरारी दाऊ के तीतर' से काफी मोटा और गर्म। उस के पंजों मे दो छोटे-छोटे चाकू बंधे हुए थे। मुरारी दाऊ का 'तीतर' निहत्था था।

'दुन्नो ला सराब पिलाई होही।' मैने मन ही मन कहा।

तीतर मैदान में कुछ मिनटों तक पैंतरे बदलते रहे, फिर झपट कर आपस मे गुथ गए। उन की फड़फड़ाहट से मैदान में धूल उड़ी, फिर नुचे हुए परों का एक बादल-सा उठा। रामलखन उछला—"मार दे, मार दे! पकड़ गर्दन! येब्बात! उइही! शाबास्साअ!"

चाकू वाला तीतर वैसे भी तगड़ा था। वह दूसरे तीतर को यों धुनने लगा मानो वह रुई का बना हो। छोटा तीतर कब तक टिकता? वह पूरे जोश और सावधानी से लड़ रहा था, लेकिन बड़ा तीतर उसे गर्दन से पकड़ कर जमीन पर पटकने लगता। थोड़ी देर में वह जोरो से चीखने लगा। चाकू के वारों से वह लहूलुहान हो गया था। वह मैदान छोड़ कर भागने की कोशिश करने लगा, लेकिन बड़े तीतर ने झपट कर उसे पकड़ लिया। रामलखन खुश हो कर नाचने लगा। केसरीसिंह और बड़े बाबू मुसकरा रहे थे।

छोटा तीतर मुर्दा हो कर जमीन पर बिछ गया। बड़ा तीतर खून से लाल चाकुओं के साथ मैदान के बीच मे शान से खड़ा हो कर चहकने लगा। रामलखन उसे पिंजड़े मे बन्द करने के लिए आगे आया तो वह बिफर कर दूसरी ओर भागा। जीत के जोश में वह कांप रहा था। रामलखन उछल पड़ा—"नही जितही! मुरारी दउआ नही जितही! ओकर (उस का) तीतर मर गिस। हा हा हा!"

◉

सुसीला में मेरे लिए रूखापन तभी से आ गया था जब से भड़भूंजा मुझे ज्यादा पैसे देने लगा था। अब वह रूखापन और बढ़ा था।

एक दिन मैं ने उसे सिया को पास बुलाते देखा। मैं नुक्कड़ पर रुक गई। सिया सरलता से उस के पास चला गया, क्योंकि वह मेरी संगवा-

रिन थी।

मैं ने देखा, सुसीला उस से खूब हंस-हंस कर बातें कर रही है। उस की आंखें पूरे फैलाव के साथ सिया के चेहरे की ओर उठीं और मैं ने उन में वह भाव तैरते देखा जो किसी भी लड़की से नहीं छिपाया जा सकता। क्या मेरी चिड़िया सुसीला अपने लिए फांस रही है? सुसीला सिया से प्यार नहीं करती थी। सुसीला क्यों, उस घोंचू से कोई भी प्यार नहीं कर सकता था। उस की हर बात हंसने लायक, बेवकूफी-भरी थी। लेकिन उस के पास था पैसा।

मैं सावधान रहने लगी।

उस के बाद मैं ने अकसर उन्हें, मुझ से चोर-चोर ठिठोल करते पाया। नहीं, मैं सुसीला को डाका नहीं डालने दूंगी।

क्या सुसीला में मुझ से ज्यादा खिंचाव हो सकता है? नहीं, सुसीला मेरे जितनी सुन्दर नहीं है। लेकिन वह मुझ से ज्यादा चण्ट जरूर है। उस का जन्म ही शहर में हुआ है। उसी ने मुझे यहां की चालें सिखाई हैं।

एक दिन मैं ने सिया को उस के गाल पर चुटकी काटते देखा। मैं आग हो गई। पहले तो जी हुआ, जा कर इस वक्त सिया का चेहरा नोच लूं, लेकिन अपने पर सब्र किया—इस तरह चिड़िया उड़ सकती थी।

शाम को वापस लौटते समय मैं और सुसला एक सूने रास्ते से गुजरीं तो मैं ने उस का झोंटा पकड़ लिया और धम्म से एक मुक्का उस की पीठ पर मारा। वह सावधान नहीं थी और मैं ने सोचा था, मेरे एक मुक्के से वह नीचे गिर पड़ेगी। तब मैं उस की छाती पर चढ़ बैठूंगी और मार-मारकर उसका दम निकाल दूंगी। लेकिन मैं ने देखा कि वह केवल लड़खड़ाई, गिरी नहीं। वह पलट कर मेरे सामने खड़ी हो गई, फिर झपट कर मुझ से गुत्थम-गुत्था हो गई। हम दोनों बिना कहे जान गई थीं कि हम क्यों लड़ रही हैं।

मैं अब करतरा की सांवरी नहीं थी जो रोज गोरस पीती थी और भैंस की पीठ पर चित लेट कर मैदानों में दौड़ती बौछार की छरछर सुनती थी। शहर के खान-पान और रहन-सहन ने मुझे खोखला कर दिया था। मेरा अन्दाजा गलत निकला, सुमीला में मुझ से कहीं ज्यादा ताकत थी। उस ने कुछ ही देर मे मुझे जमीन पर गिरा दिया। वह मेरे ऊपर चढ बैठी और दनादन मुक्के मारने लगी। मैं उस के नीचे दबी तड़प रही थी। मेरे हाथ-पाव फटकारने से आसपास धूल का बादल घिर आया।

सुमीला ने मेरी धोती फाड दी। उस के नाखूनों ने जगह-जगह से मेरा मांस नोच लिया। मेरे बाल धूल से सन गए। उस ने मुझे तब तक न छोड़ा जब तक मेरी नाक से खून न गिरने लगा।

छाती से उतर कर उस ने मुझे लात मारी, जमीन पर थूक कर कुतिया की तरह उसे धूल में ढका और तेज कदमों वहा से चली गई।

पीछे से मैं उसे गालिया देती रही—भद्दी-भद्दी गालियां, जो केवल पुरुष दे सकते हैं। फिर मैं रो पड़ी। मैं हार गई थी।

घर लौटी तो मेरी बदहवास हालत देख कर दाई ने कारण पूछा। पता नहीं क्यों मैं कुछ भी न छिपा सकी। कई दिनों के बाद आज मैं उस से लिपटी और हिलक-हिलक कर रोई।

२९

शहर की घुटन-भरी हवा और भड़भूंजे की दुकान के धुएं-भरे वातावरण ने मेरे शरीर को धीमे-धीमे-लटकाना शुरू कर दिया था। मैं सिया को अपने आकर्षण में बांध कर न रख सकूंगी तो? सुसीला उसे मुझ से छीन न ले यही चिन्ता मुझे दिन-रात खाए जाती।

मैं सिया से साफ-साफ कह चुकी थी कि उसे सुसीला के साथ मेल-जोल नहीं बढ़ाना चाहिए। उस ने नाटकीय ढंग से कान पकड़ते हुए कहा था—"कईसी बात करत हस, मोर हिरना!"

परन्तु मेरा दिल कहता था, पता नहीं क्यों मुझे ऐसा लगता था कि सिया झूठ बोल रहा है, मुझे धोखा दे रहा है। उस के वर्ताव में अब मैं अपने लिए उतनी तड़पन नहीं पाती थी। जब मैं ने इस का कारण खोजने की कोशिश की तो मुझे लगा, शायद मैं अभी तक शहर के तौर-तरीके नहीं सीख पाई हूं। शहर के लोग गांव के लोगों से अलग ढंग से प्यार करते हैं ऐसा सुसीला मुझे हजार बार बता चुकी थी और मैं ने उस पर विश्वास भी किया था। अविश्वास करने का कोई कारण था नहीं। सुसीला शहर में जन्मी थी, शहर में पली थी। मैं गांव से यहां आई थी, एक गंवार की तरह। उस ने मुझे यहां का मनखा बनाया था।

क्या मैं शहराती तरीके अच्छी तरह नहीं जानती? इतने दिनों में भी नहीं जान पाई? कब रूठना, कब मान जाना, कब कोई मांग करना—क्या मुझे कुछ नहीं आता? क्या मैं उस समय रूठ जाती हूं, जब मुझे रूठना नहीं चाहिए? प्यार की गर्म छूअन देने के ऐन मौके पर मैं दूर बिदक जाती हूं?

ज्यों-ज्यों दिन बीतते गए, मुझे विश्वास होता गया कि प्यार करने

की कला में सुसीला मुझ से आगे है। तभी तो सिया उस की ओर खिंच रहा है हालांकि खूबसूरती में वह मेरे सामने कुछ भी नहीं है।

जब मैं सिया से रूठना चाहती, मैं डर जाती कि शायद मैं भूल कर रही हूं। और मैं उसे भींच लेती, चूम लेती। मैं देखती कि वह झूठी मुसकान मुसकरा रहा है या जरा भी नही मुसकरा रहा है। मैं उस को भींचती और कई बार वह बुत की तरह खडा रह जाता। मैं बहुत ही घबरा जाती। हर दिन मैं सिया से कहती—"यो कब तक चलहो ? जल्दी-से-जल्दी शादी कर लेने मे भलाई हुवै।" मैं चूमती—जबर्दस्ती—और कहती कि देखो, मैं तुम्हे कितना प्यार करती हूं, कितना चाहती हूं। वह हां-हूं करता, पर कभी पक्की बात न करता कि इस दिन वह मुझे घर मे बिठा लेगा। मैं जानती थी, वह सुसीला मे और ज्यादा मिलने लगा है, लेकिन मैं अब उस के सामने सुसीला का नाम तक लेने की हिम्मत न करती। मैं उस से केवल एक जिद करती थी—मुझ से शादी कर लो।

कितनी बेसहारा और लाचार थी मैं ! खतरे की तलवार मेरे सिर पर कच्चे धागे से लटक रही थी और धागा कभी भी टूट सकता था··· आगे की कल्पना करते ही मेरा सिर घूम जाता···यदि मैं···यदि मैं···

कुछ दिनों से मैं अच्छी तरह समझ चुकी थी कि सुसीला हर मानी में मुझ से आगे है, उस से लड कर मेरा काम न चलेगा। सुलह कर लू उस से ? मन मे घन चलते रहे···सुलह ?

सुसीला के पास नई धोती और नए बुन्दे आ गए थे। मुझे शक न था क्यों, बल्कि मुझे मालूम ही था कि वे चीजें उसे किस ने दी हैं। सुसीला कई दिनों पहले भड़भूंजे की नौकरी छोड चुकी थी। जाते-जाते उस ने मुझ से जो रूखा वर्ताव किया था, उस से केवल एक [illegible] आई थी—तुम मेरे सामने कुछ नही हो।

अब वह मछली बजार मे बैठती थी। एक मछुआरे ने अपनी मछ-लिया बेचने के लिए तीन औरतें रखी थी जिन मे से एक वह थी।

पिछले चार दिनों से मैं ने उसे नहीं देखा था। उस की गैर-हाजिरी ने मुझे और सहमा दिया। भड़भूंजे की नौकरी छोड़ने से पहले हालांकि वह मुझ से बात भी न करती थी लेकिन पास तो बैठी रहती थी। गर्म रेत कड़ाह में औटाते हुए मैं उस की ओर चोरी से देख लेती और एक अनबूझा सन्तोष मुझे मिलता। कभी-कभी वह भी मुझे चोरी से देखती। आंखें टकराने पर हम दोनों झेंप जातीं और हमारे हाथ जल्दी-जल्दी भट्ठी की रेत उलटने लगते।

लेकिन जब से उस ने नौकरी छोड़ कर मछली बेचना शुरू किया था, मैं हर समय यही सोचती रहती कि वह सिया से बातें कर रही होगी, उसे भरमा रही होगी। मैं चाहती थी, हर समय उसे देखती रहूं, हालांकि मैं उस से नफरत करती थी। इन विचारों ने मुझे बुरी तरह डरा दिया। मैं अपने में सिकुड़ती रही, दुबकती रही, बढ़ते डर को झुठलाने को कोशिश करती रही और अपनी नाकामयाबी से और ज्यादा डरती रही।

फिर एक दिन अचानक मेरी पसलियां भरभरा कर दिल पर ढह गईं।

दिन भर मैं पता नहीं कहां मारी-मारी फिरी। जब मुझे होश आया मैं मछली बजार के गेट के सामने खड़ी थी।

मछली बजार···सुसीला···

यहां कब आ गई मैं? और क्यों?

मैं चुपचाप खड़ी रही। मन में गुबार के बादल उठ रहे थे। दिल की कोठरी की दीवारों पर कालिख की पर्तें इतनी मोटी हो गई थीं कि अब उस के कतरे अपने-आप झड़ कर मेरे विश्वास के फर्श को पाट रहे थे···धीरे-धीरे वह फर्श उन काले-काले, घिनौने कतरों से बिल्कुल मुंद गया और मुझे लगा, मेरी आंखें वहां नहीं, हैं, जहां सब की आंखें होती हैं, बल्कि वे हवा में अधर लटक रही हैं और देख रही हैं कि मैं किस तरह भुतहे कदमों से मछली बजार में घुस रही हूं।

हट्टरी बजार के पूरब के छोर पर चार फीट ऊंची चहारदीवारी में मछली बजार लगता था। भीतर की चिल्ल-पों मैं ने नही सुनी, बदबू का एहसास मुझे न हुआ। मेरी सारी चेतनाएं मर गई थीं। जब वे लौटी तो मैं ने पाया, मैं सुसीला से लिपट कर रो रही हूं।

फिर सुसीला मुझे चहारदीवारी से बाहर ले आई। मैं रोती रही। मैं उस से मिन्नतें कर रही थी, सिया मुझे दे दो'''मैं घिघिया रही थी, बिलख रही थी। दे दे, सिया मुझे दे दे, फिर भले तू उस के साथ जनम भर मजे लूटना'''मैं कुछ न कहूंगी'''मैं सिया से शादी करना चाहती थी। मैं जानती थी, मैं उस की चहेती नही बन सकती। चहेती केवल सुसीला बन सकती है। मैं अब केवल उस के घर मे पहुच जाना चाहती थी जिस में मैं समाज की उन निगाहों से बच सकूं जो अब नफरत से पहले मेरे पेट को, फिर मेरे चेहरे को घूरने वाली थीं।

सुसीला से पता नही कितने दिनों बाद मैं ने बातें की थीं। मुझे होश नही था, किन शब्दों मे मैं ने आम सड़क पर रोते हुए उस से सिया की भीख मागी। वह मुझे खीच कर नुक्कड़ की आड मे ले गई।

मैं वापस लौटी तो मेरे दिल की उन कई नसों मे फिर से खून दौडना शुरू हो गया था जो मुर्दा हो चुकी थीं। आसुओं ने मेरी नाक भीतर से धो दी थी और भीगी हिचकियां रह-रह कर मेरे गले में अटक रही थी।

ओह, सुसीला कितनी अच्छी है! मैं सोच रही थी। सचमुच कितनी अच्छी! उस ने कितने प्यार से मेरी पीठ थपथपाई, बिल्कुल मां की तरह। मेरा दिल किलक रहा था—सिया मुझे मिल जाएगा। सिया मुझे मिल जाएगा। हां, सुसीला ने वचन दिया था मुझे। उस ने मेरा सौदा मान लिया था। उस ने कहा था, सिया से वह मेरी शादी करा देगी। बिना कहे वह जान गई थी, मैं अपने पेट में छोटे सिया को पाल रही हूं। आखिर वह एक औरत थी। मेरी बात मानने से पहले वह बहुत देर तक सोच मे डूबी रही थी। उस के चेहरे पर कई भाव एक

साथ उभरे और उड़े थे। मैं पूरी ताकत से उसे हचमचा रही थी।

सौदा···

इसे सौदा ही तो कहा जाएगा। इस सौदे में मेरा परदा था और सुसीला का फायदा। इसे मान लेने के पीछे उस की मक्कारी होते हुए भी मैं आभार से दव गई थी।

उस ने वड़े विश्वास से कहा कि सिया पूरी तरह से उस के काबू में है, वह उस की वात नहीं टालेगा। जव उस ने कहा कि वह सिया पर राज करती है, तो मैं चाह कर भी उस से ईर्ष्या न कर पाई। उस ने शर्त रखी कि मुझ से शादी के वाद भी वह सिया से खूव सौगातें लेगी।

"ठीक हवै।"—मैं डूवते-डूवते वच रही थी।

लेकिन इस का भी क्या तय कि सुसीला की वात सिया मान ही लेगा, मुझ से शादी कर ही लेगा? वह साफ इन्कार भी कर सकता है। वह सुसीला को वांहों में भींच कर कहेगा, मैं तुम से, केवल तुम्हीं से शादी करूंगा—तव सुसीला इन्कार कर सकेगी?

हां, जरूर वह इन्कार कर देगी···मैं अपने को दिलासा दे रही थी··· वह वहुत चालाक है। वह सिया जैसे घोंचू से शादी नहीं कर सकती। वह केवल उसे लूट सकती है, भरमा सकती है। शादी करनी पड़ेगी तो मुझे···हिरना को···

पड़ेगी?

हां, पड़ेगी ही करूंगी मैं। मैं उस से शादी कभी न करती, अगर···

लेकिन अव इस के सिवा कोई और चारा नहीं था।

मैं इस समय केवल अपना मतलव देख रही थी। मैं भूल गई थी कि ददा मेरी शादी उसी के साथ करना चाहते हैं जो घरजमाई वन कर रहे। मैं यह भी भूल गई थी, कुछ ही दिनों में मेरे एक भाई या वहन भी आने वाली है। तव उन तीन सौ रुपयों में से करीव पचास खर्च हो जाएंगे, जिन के मोह में फंस कर ददा नौकरी के शिकंजे से न छूट सके थे, अपना धन्धा जमा नहीं सके थे।

दूसरे दिन मैं सुसीला के पास पहुची। मेरा दिल बुरी तरह धड़क रहा था। सुसीला मुझे देखते ही व्यापारी मुसकान मुसकराई और उठ कर मेरे पास आई। उस ने फुसफुसा कर कहा कि सिया से अभी पन्द्रह दिनों तक कोई बात न हो सकेगी, क्योंकि वह कर्जदारों से रुपए वसूलने के लिए गांवों और कसबों के दौरे पर है।

पन्द्रह दिन !

मेरा दिल बैठने लगा।

सुसीला ने मेरे चेहरे का रंग उड़ते देखा। उस ने मेरी पीठ थपथपाई और कहा कि मुझे कोई फिक्र नहीं करनी चाहिए, सिया से मेरी शादी जरूर होगी।

सुसीला भी सिया से नहीं मिल पाई थी। सिया ने एक मितान (दोस्त) के जरिए उसे सन्देश भिजवा दिया था कि अचानक वह दौरे पर जा रहा है।

सिया ने सुसीला को सन्देश भिजवाया, लेकिन मुझे···

मैं न कुढ़ सकी, न जल सकी।

अभी मैं ने सिया को नहीं बताया था कि मैं···

३०

समय के रथ के पहिए इतनी तेजी से घूम रहे थे कि मुझे बिल्कुल पता न चला, कब चुनाव का समय आ गया। चुनाव परसों था। मुरारी दाऊ और लाला रामदास के आदमी सब को यह समझाते हुए घूम रहे थे कि 'भोट' कैसे पड़ते हैं। उन के हाथ में एक कागज होता जिस में दो खाने बने होते। एक मुरारी दाऊ का खाना, एक लाला रामदास का जो पिछले साल भी मुन्सीपाल्टी के पेसीडेण्ट रह चुके थे और अब फिर से चुनाव में खड़े हुए थे।

लाला रामदास केवल लालाजी के नाम से प्रसिद्ध थे। उन की भौंहें बहुत मोटी थीं जो बीच से इस तरह जुड़ी हुई थीं मानो एक ही भौं दाएं से बाएं तक खिंची हुई है। नाक के नीचे बालों का जबर्दस्त गुच्छा था, कान से भी घुंघराले बाल बाहर झांकते थे। उन के हाथ-पैर पर भी बहुत ज्यादा बाल थे। लोग मजाक करते कि पिछले जन्म में जरूर वह भालू रहे होंगे। कई बार मैं ने सुना था कि वह बहुत मक्कार हैं। उन्होंने मुन्सीपाल्टी का चुनाव पांच साल पहले जीता था। उस समय उन के पास कोई पैसा नहीं था। वह जनता के लाड़ले थे और खुद जनता ने उन्हें चुनाव में खड़ा किया था, उन्हें जिताया भी था। लेकिन पेसीडेण्ट होने के बाद वह बहुत बदल गए थे। उन्होंने केवल अपने आदमियों को दफ्तर में भरती किया और जनता के पैसों की मनमानी लूट मचाई।

उन्होंने वादा किया था कि वह शहर की कच्ची सड़कों को पक्की करवाएंगे, लेकिन कुर्सी मिलते ही वह अपना वादा भूल गए। कच्ची सड़कों की हर साल मरम्मत होती, लेकिन उन्हें पक्का न करवाया जाता। अनाज की मण्डी होने के कारण दानीपुर में बहुत-सी बैलगाड़ियां थीं जिन के चक्के सड़क की छाती पर हुमच-हुमच कर रोज नए गड्ढे बनाते।

लालाजी ने कई वादे किए थे, ढोर इस्पिताल को बड़ा करने का, नया गंज (खुली मण्डी, जहां अनाज बिकता है) खुलवाने का, पारक लगवाने का—और भी न जाने क्या-क्या, लेकिन किया कुछ नहीं था।

जब फिर से चुनाव हो रहा था तो उनके पास अपना मकान और एक काली कार थी।

लेकिन उन में एक बहुत बड़ी खूबी यह थी कि वह भाषण देना बहुत अच्छा जानते थे। मच पर खड़े हो कर जब वह लोडस्पीकर पर बोलते तो उन का एक-एक शब्द सुनने वालों पर जादू की तरह असर करता।

इस साल भी उन्होंने जितने भासन दिए थे, उस के आधे भी मुरारी दाऊ ने नहीं दिए थे। भासनों में उन्होंने जनता को बताया कि वह क्यों अपने वादे न निभा पाए। न जाने क्यों उन के कारणों में जनता को दम नजर आता था।

दाऊ दुरमोचनसिंह की तबीयत और ज्यादा बिगड़ गई थी जिस से वह दानीपुर न आ सके थे। मझले और छोटे बाबू ने यहां के चुनावों में दिलचस्पी नहीं दिखाई थी।

मुरारी दाऊ ने जब भी भासन देने की कोशिश की, खूब हुल्लड़ मचा। मच पर पत्थर और जूते फेंके गए। उन को भासन करने का मौका ही न मिल पाता। मैं आश्चर्य करती कि जो मुरारी दाऊ जनता में इतने भले समझे जाते हैं, उन्हीं का इतना विरोध क्यों हो रहा है? जिन लाला-जी की हर समय नुक्ताचीनी होती रहती थी, वह जनता के इतने लाड़ले क्यों बन रहे हैं?

बाद में मुझे पता चला था कि यह सब बड़े बाबू की शैतानी थी। मुरारी दाऊ से बदला लेने की सनक पूरी करने के लिए वह पानी की तरह पैसा बहा रहे थे। मुरारी दाऊ गुण्डे हैं, चोरी-चोरी औरतों की इज्जत लूटते हैं, परदेस के खुफिया आदमियों से पैसा खाते हैं—वगैरह बातें बड़े बाबू के भासन में आतीं और खूब तालियां पिटतीं। ये तालियां उ अपने आदमी पीटते थे जो इस के लिए पैसा पाते थे। उन के

शुरू करते ही, जैसा कि भीड़ में होता है, दूसरे लोग भी विना कुछ सोचे-समझे तालियां पीटने लगते थे।

वे ही गुण्डे मुरारी दाऊ के भासन के समय पथराव करते, सीटियां वजाते, जूते उछालते। उन के हंगामे को ऐसा रंग देकर कि जनता मुरारी दाऊ को पसन्द नहीं करती, लालाजी अपने भासन गढ़ते।

मैं पैसों के लिए पथराव करने वालों से नफरत न कर पाई। पैसा! काश! यह न होता दुनिया में! कई वार मैं सोचती, मुरारी दाऊ भी गुण्डे क्यों नहीं वुलाते? जैसे के साथ तैसा होना ही चाहिए। वेचारे वह तो ठीक से भासन भी नहीं दे पाते। जनता के सामने जव तक वह कुछ वोलेंगे नहीं, उन्हें भोट कैसे मिलेंगे? रामलखन भी कहता था कि चुनाव में लालाजी मुरारी दाऊ को जरूर हरा देंगे। मुझे यह अच्छा न लगता।

दानीपुर आ कर रामलखन पहले से मोटा हो गया था। उस की आंखों में ज्यादा मक्कारी आ गई थी, जो करतरा में नहीं थी। जाने क्यों उसे विश्वास था कि वड़े वावू के रहस्यों को वह विना किसी खतरे के ददा के सामने खोल सकता है। करतरा की यह आदत अभी तक उस से छूटी नहीं थी। उस के पेट में कोई वात नहीं पचती थी। दानीपुर में केवल ददा ही ऐसे व्यक्ति थे, जिन के सामने वह विना किसी डर के अपना पेट उगल सकता था।

दूसरे दिन पोलिंग का नाटक (रिहर्सल) किया गया। भोट कैसे डालने चाहिएं, वगैरह सव को समझाया गया। दानीपुर में पढ़े-लिखे ज्यादा नहीं थे। ज्यादातर लोग गंवार थे, जो अपनी किस्मत की राह टटोलते हुए गांवों से यहां आए थे। उन्हें पता भी नहीं था, भोट किस चिड़िया का नाम है। उन्हें क्या, मुझे भी कुछ न मालूम था, भोट कैसे और क्यों डाले जाते हैं। रामलखन ने पूरी वात मुझे समझाई तो मुझे वड़ा आश्चर्य हुआ कि पेसीडेण्ट और वारड के मीम्वर चुनने का यह तरीका कितना आसान और अच्छा है!

जव नई सुवह हुई और मैं ने कोठरी का दरवाजा खोला तो मैं ने

देखा, एक तागा ठीक सामने था कर रुका और रामलखन नीचे उतरा। मुझे देखते ही उसने मुसकरा कर पूछा—"ददा का कोती (कहा) हवे ?"

"भीतर।"

वह भीतर आया और ददा के कान में कुछ फुसफुसाने लगा। मैं उत्सुकता से पास सरकी। मैं ने सुना, वह कह रहा था—"चलो मण्डल, भोट डार आओ। लालाजी को भोट देना। दुरी अऊ दुरी की मां को भी समझा दो।" —फिर मैं ने देखा, उस ने ददा के हाथ में छह रुपए रख दिए।

ददा की आखें चमक उठी। वह झटपट पगडी बांधने लगे। रामलखन बाहर निकलते हुए दाई से बोला—"भौजी, नई साडी पहन लो, जल्दी। बाहर तागा खड़ा हवै।"

"एक भोट के दू रुपया ! वाव्वा भाई वा !" —ददा बुदबुदा रहे थे। "सुना हिरला के दाई, भोट लालाजी को देबे। विचारा इतना खरच करत हवै।"

मैं आगे आई—"ददा, मोर भोट के दू रुपए मोला (मुझे) दे दो।" मैं अपने रुपए कैसे छोड सकती थी। ददा ने नफरत से मेरी ओर देखा, फिर रुपए मेरी हथेली में सरका दिए।

तांगे मे लद कर हम पोलिंग-टेशन की ओर चले।

रामलखन ने कहा—"मुरारी दाऊ एक भी तागा नही किस। वो समझयं कि जनता लालाजी के खरचे पर तागे मे पोलिंग-टेशन जाही अऊ भोट लालाजी को नहो देही। वाह रे अकिल !"

तांगे मे हिचकोले लग रहे थे। तीन लोग तांगे मे और लदे। मुझे डर लगने लगा, कही घोडी बैठ न जाए। तागे वाला बड़ा खुश था। 'मोटी रकम मिल रही होगी उसे।' —मैं ने सोचा। पैसा ! अनजाने में मेरा हाथ पेट को छूने लगा। यहा पैसा ही तो पल रहा है !

रास्ते मे कई रिक्शे और तागे हमे मिले, जो लोगो को लाद-लाद कर टेशन की ओर बढ रहे थे। उन में बैठे लोग खुशी से किलकारियां

भर रहे दे। यह बात नहीं कि वे कभी रिक्शे या तांगे में बैठे नहीं थे, खुश वे इस लिए थे कि आज वे मुफ्त की सवारी गांठ रहे थे।

लोगों की कई टोलियां हम ने देखीं। टोली का नायक नारा लगाता —"लालाजी को···"

टोली नारा उठा लेती—"···भोट दो !"

"दुस्सर पेटी···"

"छोड़ दो !"

उन के हाथ में बड़ी-बड़ी तख्तियां थीं, जिन में पता नहीं क्या लिखा हुआ था, लेकिन उस लिखाई का अन्दाजा मैं लगा सकती थी। उन में लालाजी के गुणगान किए गए होंगे। क्या इन सभी को लालाजी ने रुपए दिए हैं ? उन के भोट खरीदने के लिए ? मैं ने अपने रुपयों को मुट्ठी में भींचा। नहीं, रुपए मैं ने लिए जरूर हैं, लेकिन भोट मैं मुरारी दाऊ को दूंगी।

रामलखन कह रहा था—"बड़े बाबू ने सात-आठ हजार रुपया फूंक दिया होही !"

पोलिंग-टेशन का वातावरण शान्त था। टेशन की हद से काफी परे लालाजी की टोलियां शोर मचा रही थीं।

रामलखन ने बताया था कि असली उमर बताने पर मैं भोट न दे पाऊंगी। भोट देने वालों की लिस्ट जब कई दिनों पहले बन रही थी, तभी मेरी उमर ज्यादा लिखा दी गई थी। उस झूठ के दो रुपए मुझे अब मिले थे। काम बड़ा सरल था। एक सूने कमरे में एक पेटी रखी हुई थी। मैं ने भोट के कागज में बने मुरारी दाऊ के खाने में निशान लगाया। उन का खाना ऊपर था, लालाजी का नीचे। भोट को पेटी में डाल कर मैं बाहर निकल आई। मेरे हाथ पर काली बिन्दी लगा दी गई जिस से मैं दूसरी बार भोट न डाल सकूं। मेरे बाद दाई और ददा ने भोट डाले।

"तोर घरवाले का का नाम हवै ?"—दाई से पूछा गया तो शर्म से वह पानी-पानी हो गई। इतने सारे लोगों के सामने भला वह कैसे

अपने घरवाले का नाम ले ? उसने मुह छिपा लिया और दूसरी ओर घूम गई। पास ही खड़े ददा ने उसे बचाया—"मोर नाम रामदरस हवै। ए मोर घरवाली हवै।"

शाम को रीझट (रिजल्ट) निकला।

आश्चर्य ! जीत मुरारी दाऊ के हाथ लगी थी।

जो लोग उन्हें बुरा बता रहे थे, उन्होंने ही अचानक दौड़ कर उन्हें कन्धों पर उठा लिया और हिप-हिप-हुर्रे करते हुए उछलने लगे।

लालाजी को पूरे तीन हजार भोट कम मिले थे।

३१

मैं दाई से लिपट कर रो पड़ी। और कर भी क्या सकती थी। उस ने मुझे जरा भी न थपथपाया। एक हल्के झटके के साथ उसने मेरी बांहों को परे कर दिया जिन्हें मैं उस की कमर के गिर्द भेड़ने की कोशिश कर रही थी। यह इतना बड़ा अपमान था कि दो घड़ी तो मेरी हिचकियां भी रुक गईं। फिर मैं दौड़ कर खाट पर गिरी और तकिए को बांहों में यों भींच लिया, मानो वह कोई जिंदा चीज हो जो मुझे दिलासा दे सकती हो। फफकती गई मैं, फफकती गई।

रात को ददा लौटे तो दाई ने बेशर्मी से कहा—"हमार बिटिया शादी रचा लिस। धन करजुग ! पिरलय में अब देर नहीं।"

"का मतलब ?"

"मतलब अपन लाड़ली से पूछो।"

ददा अभी भी न समझे थे। कल्पना भी तो न हो सकती थी उन्हें ···उन की बेटी···उन की हिरना···उस दिन जब दाई ने उन के सामने ही मुझ से पूछा था कि मैं दो जीव तो नहीं हूं, तो मैं ने साफ इन्कार कर दिया तो ददा ने मुझ पर विश्वास कर लिया था। वह घटना उन के दिमाग से उतर चुकी थी।

पूरी बात वह समझे तो भड़ाक से दरवाजे उघाड़ कर बाहर चले गए और सारी रात बाहर रहे। दूसरे दिन वह लौटे तो मैं उन्हें पहचान न पाई। एक ही रात मैंने मानो डाकिन की तरह उन का खून चूस लिया हो। उन की आंखों की कौंध, जो फिर भी थोड़ी-बहुत बाकी थी, अब बिल्कुल बुझ गई थी। वे आंखें मानो सीसे की बनी हों। उन्होंने मुझ से कुछ न कहा। सच, एक शब्द भी न कहा। मेरी ओर देखा तक नहीं। चुपचाप आए, खाट उठाई और आंगन में चले गए।

कोठरी के एक कोने में खामोश बैठी मैं आंगन में खाट बिछने की आवाज सुनती रही। खाट की चरमराहट भीतर आई। ददा उस पर पत्थर की तरह गिरे होंगे। दरवाजा खुला-का-खुला रहा। मैं ने धुएं के गुबार उड़ते देखे। ददा जल्दी-जल्दी बीड़ी के कश ले रहे थे। मैं उन्हें देख न पा रही थी, लेकिन उन के उड़ाए धुए को, जो उन के फेफड़ो की अन्दरूनी आग का धुआ था, देख कर मैं बावरी हुई जा रही थी।

मेरा घर से *निकलना बन्द कर दिया गया*। मुहल्ले में अभी बात नही फैली थी। मैं ने ईश्वर को लाख धन्यवाद दिया कि मेरा पेट ज्यादा न फूला था। कुछ औरतों के पेट किस बुरी तरह फूल जाते हैं! कितनी बुरी दीखती हैं वे!

सिया को वापस आने में अभी पाच दिनो की देर थी। एक-एक दिन पहाड की तरह बीत रहा था।

मैं ने दाई को सुसीला के साथ हुए सौदे की बात नही बताई थी। उस सच्चाई को झूठ का बाना पहना कर मैं ने यो बताया था कि सिया मुझसे शादी करने का वचन दे चुका है, दौरे से लौटते ही वह मुझ से शादी कर लेगा। मैं ने एक झूठ यह भी कहा कि सिया घरजमाई बनने के लिए तैयार है। हालाकि मैं जानती थी, मेरी कलई खुल कर रहेगी, लेकिन बाद की बाद में देखी जाएगी, सोच कर मैं अपने को बहकावे में डाल रही थी।

मैं ने देखा कि मेरे झूठ से दाई-ददा को काफी तसल्ली मिली है। किसी धनवान का इकलौता बेटा घरजमाई बनने वाला था, उन का सब से बडा मतलब हल हो रहा था—उन का मुह बन्द हो गया।

हा, यह मेरी भूल जरूर थी कि मैं शादी से पहले ही'''लेकिन इस मे भी मैं अपने से ज्यादा कसूर सयोगों का पाती थी। यह विधाता का मजाक ही तो था जो मैं सिया के साथ इतने कम समय मे'''मैं ने अधिकांश कुवारी लड़कियों को कुवारी *नही पाया* था। जो कुंवारी बची हुई थी, वे दूसरी लड़कियो की ओर घृणा से नहीं, बल्कि उत्सुकता से

थीं। सच पूछा जाए तो जो अभी तक अछूती थीं, वे साहसी नहीं थीं। कई लड़कियों के कइयों के साथ सम्बन्ध थे। सभी से रुपए लूट कर वे ऐश करती थीं और उस हालत में नहीं फंसती थीं, जिन में मैं फंसी हुई थी।

'शादी के बाद तो यह होने ही वाला था।' —शायद दाई-ददा ने सोचा हो, लेकिन उन्हें क्या मालूम कि शादी की बात ही अभी कितनी डांवाडोल है। मैं भयानक मानसिक तनाव में जी रही थी। जिधर भी मेरी नजर उठती, फिर चाहे वे आकाश में उड़ रहे अबाबील होते या कोठरी की छत की सड़ी हुई सींकें, मुझे लगता, ये सब मुझ पर ताने कस रहे हैं, हंस रहे हैं मुझ पर…इन सब की आंखें मेरे चेहरे पर न टिक कर मेरे पेट पर टिकी हुई हैं और मैं चाहे कितने भी कपड़े पहनूं, वहां का उभार नहीं छुप सकता।

दो दिन घर की कैद में गुजरे। सिया को लौटने में अब तीन दिन रह गए थे।

⊙

करीब आधी रात को मेरी नींद खुली। ददा ने मुझे झकझोरा था। वह फुसफुसा रहे थे—"नोनी! बाहर चल।"

सहसा मैं समझ न पाई कि वह आधी रात के समय मुझे कोठरी से बाहर क्यों ले जाना चाहते हैं। फिर मैं ने देखा कि कोठरी के बीच में परदे की तरह एक लाल धोती टांग दी गई है और उधर दाई की खाट है। उधर जो ढीबरी जल रही थी, उस की रोशनी में उस धोती पर दाई की छाया पड़ रही थी। छाया के हाथ-पैर छटपटा रहे थे और सिर बेचैनी से झटके खा रहा था। मैं ने दाई की खाट के पास दो और छायाएं भी देखीं। दोनों छायाएं डोकियों की थीं जो दाई पर झुकी हुई थीं। एक क्षण में मैं सब समझ गई। तुरन्त उठ कर मैं कोठरी से बाहर निकल आई। पीछे-पीछे ददा बाहर निकले। उढ़का कर उन्होंने दरवाजा बन्द कर दिया।

आकाश साफ था। रात अन्धेरी थी, तारों की मुलमुलाती आँखें देखी जा सकती थीं। आकाश का नीलापन मुझे अच्छा न लग सका। मेरा ध्यान कोठरी के भीतर था, जहां से फुसफुसाहटें बाहर तैर रही थीं—अजीब, रहस्यमय फुसफुसाहटें। मैं कल्पनाओं में खो गई। मेरा भी समय आएगा जब'''जब'''भय के सर्द पंजे ने मुझे दबोच लिया। मौत तक हो जाती है मौरी में ! पता नहीं, वह दर्द कैसा होता होगा जो जान निचोड़ लेता है। मैं दहल गई। मैं ने दाई की चीख सुनी'''एक भयानक चीख '''आ'''ऽ'''ऽ'''चीख, जिस का आखिरी छोर फट गया।

क्या मैं भी इस तरह चीखूंगी ? नहीं, मैं नहीं चीखूंगी। लेकिन दाई ने भी तो यही सोचा होगा कि मैं नहीं चीखूंगी। और वह चीखी है। चीख जब तक रुकती है, रुकती है, पर एक बार धागा टूटा नहीं कि वह फूट पड़ती है। मेरी टांगें कांपने लगीं। मैं ने अपने को सम्हालने की कोशिश करते हुए लाचारी में ददा की ओर देखा। ददा यदि औरत होते या कोई बेजान चीज ही होते तो मैं उन से लिपट कर अपनी कपकपी दूर करती। वह आगन में बेचैनी से टहल रहे थे। चीख सुन कर उन के कदम रुक गए, फिर जल्दी-जल्दी उठने लगे। क्या 'उस समय' इसी तरह सिया भी टहलेगा—मेरी कोठरी के बाहर ?

रात के सन्नाटे की पर्तें फिर से उघड़ गईं। दाई दूसरी बार चीखी। एक ऐसी चीख, जिस पर उस का वश नहीं था। इतनी दर्दनाक आवाज मैंने आज तक नहीं सुनी थी। इस चीख के बाद दाई खामोश न रही, जैसा कि वह पहली चीख के बाद हो गई थी। वह कराहती रही—कभी धीमे, कभी जोर से। मेरी कल्पना में उस का दर्द से बिगड़ा हुआ चेहरा घूम गया। उस चेहरे में मैं ने अपना चेहरा देखा और मैं पसीने में डूब गई।

चरर !

रात की खामोशी में छोटी आवाजें भी कितनी बड़ी हो जाती हैं एक पड़ोसन का दरवाजा खुला था। वह बाहर आई। हम लोगों ने

विल्कुल पास से गुजर कर वह भीतर चली गई, विना कुछ कहे-सुने। भीतर जा कर उस ने दरवाजे उढ़का दिए। मेरी धड़कनें इतनी तेज गई थीं कि मैं उन्हें पसलियों से टकराते महसूस कर रही थी। दाई कराहती रही। शायद वह जान गई थी कि यदि वह न कराहेगी तो उसे बुरी तरह चीखना पड़ जाएगा और मुहल्ले के वे लोग भी जाग जाएंगे, जो उस की पहली दो चीखों से नहीं जागे हैं।

कराहें! लाचार कराहें!

ददा कुछ फुसफुसा कर अपना डर दूर करने की कोशिश करने लगे। उन की आवाज से मैं सिहरी, लेकिन मैं चुप रही, क्योंकि मुझे शक था, यदि मैं ने उन्हें चुप करने के लिए मुंह खोला तो चीख निकल जाएगी और मैं रो दूंगी।

आधे घण्टे के वाद भी जव भीतर से नए वच्चे के रोने की आवाज न आई तो मैं दहशत में पड़ गई। वह दर्द कितनी देर चलता होगा? उफ! कितनी बुरी मौत होती होगी यह! लगा, मेरे गर्भ की दीवारों पर कोई अपने नन्हे-नन्हे हाथ फेर कर कह रहा है, मैं भी तुम्हें ऐसा ही दुख दूंगा···और मैं उसे मना नहीं कर सकती थी।

धीरे से कोठरी का दरवाजा खुला और एक डौकी वाहर आई। ददा उसके पास सरके। वह वुदवुदाई—"तिरछा पड़ गे हवै।"

"दागदर को वुलाऊं?"

"वुला ले।" —थोड़ी देर रुक कर उस ने कहा और भीतर चली गई। ददा आंगन से नीचे उतरे और अन्धेरे में खो गए।

अव मैं वाहर अकेली वैठी थी। मेरा डर वढ़ने लगा। उढ़के दरवाजों को खोल कर अन्दर चली जाऊं? नहीं, वहां का कुछ भी मुझ से सहन न हो सकेगा। मैं रो पड़ूंगी, तो दाई का रहा-सहा साहस भी छूट जाएगा। वाहर अंधेरे में मुझे विचित्र आकार दिखाई पड़ने लगे। मैं ने घवरा कर आंखें वन्द कर लीं, लेकिन उन राक्षसी, घिनौने चेहरों ने मेरा पीछा न छोड़ा। मैं ने आकाश के फैलाव को देखा, शायद इस तरह मेरा डर दूर

हो जाए, लेकिन वहा मेरे देखते-देखते एक तारा टूटा और नीले रग पर सफेद कोर बनाता हुआ एक ओर लुढक गया। चीख रोकने के लिए मैंने मुह में धोती भर ली। इस के बाद मैं ने फिर से दाई की चीख सुनी जो उस की आखिरी चीख थी। फिर वह बेहोश हो गई। बेहोशी में उस ने बच्चे को जन्म दिया और मर गई।

कितनी बड़ी बात मैं ने कितनी जल्दी बता दी!

लेकिन मौत भी तो इतनी ही जल्दी आती है न! दद्दा जब तक दागतर को बुला कर लाए, सब निबट चुका था।

भीतर की तीन डौकियों मे से एक बाहर आ कर मेरे पास आंगन में बैठ गई थी। मैं ने उस की गोद मे सिर छिपा लिया था। वह मेरे माथे पर हाथ फेर रही थी और कह रही थी—"इन्सान का जमदूत पर का (क्या) बस। भगवान जो करयँ भला करयँ!" —वही घिसी-पिटी बात!

मेरी आखो मे एकाध आंसू गिरा होगा, बस। शायद वह आसू दुख का न हो कर डर का हो। फिर मैं न रोई। दरअसल मैं खुद की दर्दनाक मौत के ख्यालो मे इस कदर उलझ गई थी कि रोना मुझे याद ही न आया।

भीतर से बच्चे के रोने की आवाजें आ रही थी। मानो मेरा ही बच्चा पैदा हुआ हो, रो रहा हो, मैं मर गई होऊं'''और'''और मैं जो यहां हूं, वह मेरी रूह हो जो जिस्म की कैद से आजाद हो कर उस रोने को सुन रही हो।

⊙

दो दिन—दो मुर्दा दिन बीते, किसी तरह। दोनो रातें मैं जागती रही, बुरे-बुरे सपने देखती रही, चीखती रही। दद्दा समझ रहे होंगे, मैं दाई को याद कर के चीख रही हू। वह मेरे पास बैठे पीठ थपथपाते और दिलासा दिलाने के लिए कहते—"चुप हिरू, चुप लच्छी, चुप रानी! घर, बिटिया!"

उन्हें क्या मालूम, मुझे क्यों डर लग रहा है। मेरे भीतर मौत कैद थी जो हर दिन पिछले दिन से ज्यादा पुख्ता हो रही थी और जब उस के बाहर आने का दिन आएगा, वह मुझे निगल जायगी।

मेरा नन्हा-सा, बेकसूर भाई, जो इतना अलमस्त था कि पैदा होते समय उस ने अपने को और मुझे भी बिना मां का बना दिया था, अब मेरे ही जिम्मे था। उसे उठाते क्या, छूते भी मुझे डर लगता। पड़ोसनें मुझे समझातीं कि उसे उठाने में मुझे बिल्कुल न डरना चाहिए, क्योंकि वह बहुत मजबूत है, लेकिन उतने छोटे बच्चे को मैं ने कभी न छूआ था। उठाते ही मुझे लगता, वह गिर पड़ेगा।

पलकों और मुट्ठियों की कीमत वह अच्छी तरह समझता था, क्योंकि दोनों को वह हर समय बन्द रखता। उसका रंग सांवला था और उस के जिस्म पर चमकदार, रेशम से मुलायम, भूरे रोएं थे। उन रोयों से मेरी हथेलियों में गुदगुदी होने लगती, जो मुझे डरा देती।

तीसरा दिन मेरी किस्मत के फैसले का दिन था। आज शाम को सिया सुसीला से मिलने वाला था और सुसीला उसे बताने वाली थी कि मैं मां···मान जाएगा? मान जाएगा वह? मुझ से कर लेगा शादी? एक साथ इतना दबाव मस्तिष्क पर पड़ रहा था कि उस की रगें ढीली पड़ गई थीं। मैं ने सोचना बन्द कर दिया और चुपचाप फर्श पर पड़ी रही। खाट पर लेटने से मुझे डर लगता था। दाई खाट पर ही तो मरी थी··· शाम ढली। उफ! इस समय सिया को सुसीला समझा रही होगी और वह···वह क्या कह रहा होगा? हां? ना? नहीं मालूम! कुछ नहीं मालूम मुझे।

रात को सुसीला प्रेत की तरह कोठरी में आई। मैं ने उस की ओर आंखें उठाईं। थोड़े मौन के बाद निराशा से वह मेरे कान में फुसफुसाई "सिया नहीं मानिस।"

मुझे जरा भी आश्चर्य नहीं हुआ। मैं जानती थी, सिया नहीं मानेगा। वह बेवकूफ था। बेवकूफ था इसीलिए मैं ने, केवल मैं ने क्यों, मैं ने और

सुसीला दोनों ने उसे फासा था। हम जानती थी कि वह अपने दोस्तों की कठपुतली है। उस के दोस्तो ने उसे समझाया होगा कि हिरना को तुम पैसा दो, उस से खेलो, पर शादी मत करो। वह छिनाल है, चरित्तर की खोटी है, उस से शादी कर के अपनी जिन्दगी खराब मत करो।

"वह मौला (मुझ से) मिलना भी नही चाहथँ ? आखिरी वार भी नहीं ?" —मैं ने छटपटा कर पूछा। सुसीला ने ना मे सिर हिलाया। अनजाने में मैं अपने पेट को छूने लगी। वहा मौत के दो ठण्डे हाथ भीतरी दीवारों पर थपकियां दे रहे थे···मैं आ रही हूं···मैं आ रही हूं···

दाई के किरिया-करम में डेढ सौ खर्च हो गए, पूरी कजूसी के बाद भी अब ददा के पास डेढ सौ बचे थे। तीन सौ के आधे ! आधे दाई खा गई, आधे अब क्या मेरे लिए है ? मैं मर जाऊगी ? रात को दाई मेरे सपनों मे आती। कहती—"चल-चल ! चल मोर सग ! तोला सुरग की सैर···" मैं देखती कि उस की आंखों की जगह केवल दो काले-काले छेद हैं···मैं चीखती···

"बिचारी का जी बेटी मा रह गे।" पड़ोसने कहती। वे मुझ से पूछती कि क्या वे मेरे साथ सोने के लिए आए ? मैं उन्हें धन्यवाद दे कर मना कर देती। मैं उन्हें सोने के लिए कैसे बुला सकती थी ? मैं उन के सामने कम-से-कम पड़ना चाहती थी। मेरे पेट का उभार धीरे-धीरे बढता जा रहा था। सिवा ददा और सुसीला के यह रहस्य किसी को नही मालूम था। मैं इसे कब तक छिपा सकूंगी ? उभार को मैं हर समय पल्लू से ढके रहती हू, लेकिन कुछ ही दिनो मे यह इतना साफ हो जाएगा कि··· कि···मेरा सिर घूम जाता।

पडोस की डौकिया कितनी नफरत से देखेगी मुझे !

कई बार मैं सोचती, जहर खा लू, पानी मे डूब जाऊ, लेकिन मरने के लिए जो साहस चाहिए, वह मुझ मे नही था। फिर मरते-मरते दाई मुझ पर एक जिम्मेदारी भी तो छोड़ गई थी···मेरा नन्हा-भोला भाई ! मेरे सिवा इस की देखभाल कौन करेगा ? शीशी के मुह पर रबर की टोंटी

लगा कर बकरी का दूध इसे कौन पिलाएगा ? कौन करेगा इस का गू-मूत ? उस की छोटी-छोटी आंखों ने मुझे बांध लिया था। उस की नन्ही-नन्ही मुट्ठियों में मेरी जान कैद हो गई थी।

आत्महत्या करने का साहस इस लिए भी मुझ में नहीं था कि आखिर तो मैं गांव की गोरी…गांव की सांवरी थी। शहर ने मेरे डरपोकपने पर, जिसे भोलापन भी कहा जा सकता है, ठण्डी राख भले चढ़ा दी थी, लेकिन दिल से मैं करतरा की हिरना ही थी।

इधर कई दिनों से मैं कोठरी से निकल न सकी थी। शहर की हवा से मैं एकदम कट गई थी। और मैं ने पाया कि मेरी कोठरी के आसपास की जो हवा है, उस में यदि मैं खोजूं तो बड़ी आसानी से करतरा की पुरानी, जानी-पहचानी हवा पी सकती हूं।

पांच-छह दिनों बाद सुसीला मेरे पास आई और निढाल हो कर बैठ गई। उस ने बताया कि उस दिन के बाद से सिया एक भी बार दिखाई नहीं पड़ा। पता नहीं वह कहां चला गया है।

वह उदास थी, बेहद उदास। और मैं समझ न पाई, वह किस के लिए उदास है, मेरे लिए या अपने लिए।

शहर मे जूझते हुए जिस तरह हमारा कुटुम्ब टूट रहा था, उसी तरह गांव में दाऊ का कुटुम्ब भी टूट रहा था। जली हुई रस्सी में ऐंठन जरूर थी, लेकिन रस्सी थी तो अब राख की। अभावों की हवा, झूठी होड़ की सनक ने उस राख को उड़ा दिया।

चुनाव में लालाजी की हार एक तरह से दाऊ दुखमोचनसिंह की हार थी। इस सदमे को उन का बूढ़ा दिल सहन न कर सका और कुछ ही दिनों में उन की बीमारी इस कदर बढ़ी कि उन्हें दानीपुर के इस्पिताल मे भरती कराना पड़ा।

उन का बस चलता तो दानीपुर के इस्पिताल में भी भरती न होते क्योंकि यह उन के दुश्मन का शहर था, लेकिन वह लाचार थे। आसपास और कोई अच्छा इस्पिताल नहीं था। उन्हें एक साथ दमे, गठिए और बवासीर जैसे रोगों ने आ घेरा था। दरअसल उन्हें सब से बड़ा रोग तो बुढ़ापे का था। कुछ ही दिनों में उन की आंखें मुंद गईं।

उन के मरने के बाद बड़े बाबू के साथ मंझले और छोटे बाबू की न पट सकी। बड़े बाबू ने उन से अलग हो कर नीमतरा मे एक बढ़िया मकान खरीदा और वहीं रहने लगे। छोटे बाबू अपनी बहू को वहीं ले गए, जहा पढाई पूरी कर के वह नौकरी करने लगे थे। मंझले बाबू को दिलचस्पी खेतो में ज्यादा थी, सो वह करतरा में ही रहे थे।

सब से विचित्र निकले बडे बाबू। मुरारी दाऊ से बदला लेने की सनक उन पर अचानक सवार हुई थी, अचानक वह उतर भी गई। चुनाव के रीझट ने साफ दिखा दिया था कि इस सनक में कोई सार नही है। उन्होंने माफी मागते हुए मुरारी दाऊ की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया। कल्याण भवन का एक कोना मझले बाबू ने अपने लिए रखा, बाकी कराए पर गाव के गौटियों को दे दिया। इस में गलत क्या था आखिर।

लगा कर बकरी का दूध इसे कौन पिलाएगा ? कौन करेगा इस का गू-मूत ? उस की छोटी-छोटी आंखों ने मुझे बांध लिया था । उस की नन्ही-नन्ही मुट्ठियों में मेरी जान कैद हो गई थी ।

आत्महत्या करने का साहस इस लिए भी मुझ में नहीं था कि आखिर तो मैं गांव की गोरी···गांव की सांवरी थी । शहर ने मेरे डरपोकपने पर, जिसे भोलापन भी कहा जा सकता है, ठण्डी राख भले चढ़ा दी थी, लेकिन दिल से मैं करतरा की हिरना ही थी ।

इधर कई दिनों से मैं कोठरी से निकल न सकी थी। शहर की हवा से मैं एकदम कट गई थी । और मैं ने पाया कि मेरी कोठरी के आसपास की जो हवा है, उस में यदि मैं खोजूं तो बड़ी आसानी से करतरा की पुरानी, जानी-पहचानी हवा पी सकती हूं ।

पांच-छह दिनों बाद सुसीला मेरे पास आई और निढाल हो कर बैठ गई । उस ने बताया कि उस दिन के बाद से सिया एक भी बार दिखाई नहीं पड़ा । पता नहीं वह कहां चला गया है ।

वह उदास थी, बेहद उदास । और मैं समझ न पाई, वह किस के लिए उदास है, मेरे लिए या अपने लिए ।

शहर में जूझते हुए जिस तरह हमारा कुटुम्ब टूट रहा था, उसी तरह गांव में दाऊ का कुटुम्ब भी टूट रहा था। जली हुई रस्सी में ऐंठन जरूर थी, लेकिन रस्सी थी तो अब राख की। अभावों की हवा, झूठी होड़ की सनक ने उस राख को उड़ा दिया।

चुनाव में लालाजी की हार एक तरह से दाऊ दुखमोचनसिंह की हार थी। इस सदमे को उन का बूढा दिल सहन न कर सका और कुछ ही दिनों में उन की बीमारी इस कदर बढ़ी कि उन्हें दानीपुर के इस्पिताल में भरती कराना पड़ा।

उन का बस चलता तो दानीपुर के इस्पिताल में भी भरती न होते क्योंकि यह उन के दुश्मन का शहर था, लेकिन वह लाचार थे। आसपास और कोई अच्छा इस्पिताल नहीं था। उन्हें एक साथ दमे, गठिए और बवासीर जैसे रोगों ने आ घेरा था। दरअसल उन्हें सब से बड़ा रोग तो बुढ़ापे का था। कुछ ही दिनों में उन की आंखें मुंद गईं।

उन के मरने के बाद बड़े बाबू के साथ मंझले और छोटे बाबू की न पट सकी। बड़े बाबू ने उन से अलग हो कर नीमतरा में एक बढ़िया मकान खरीदा और वहीं रहने लगे। छोटे बाबू अपनी बहू को वहीं ले गए, जहां पढ़ाई पूरी कर के वह नौकरी करने लगे थे। मझले बाबू की दिलचस्पी खेतों में ज्यादा थी, सो वह करतरा में ही रहे थे।

सब से विचित्र निकले बड़े बाबू। मुरारी दाऊ से बदला लेने की सनक उन पर अचानक सवार हुई थी, अचानक वह उतर भी गई। चुनाव के रीझट ने साफ दिखा दिया था कि इस सनक में कोई सार नहीं है। उन्होंने माफी मांगते हुए मुरारी दाऊ की ओर दोस्ती का हाथ बढ़ाया।

कल्याण भवन का एक कोना मझले बाबू ने अपने लिए रखा, बाकी कराए पर गांव के गौटियों को दे दिया। इस में गलत क्या था आखिर;

३२

अब मेरे मन का भय बहुत कम हो गया था। पड़ोस में अगर मेरा रहस्य खुल जाता है, खुल जाने दो। लोग गालियां देंगे, देने दो। मैं परवाह नहीं करूंगी। मैं अपने भाई को, जिस का प्यार का नाम मैं ने सुकली रख छोड़ा था, नहलाती। उसे उठाने में अब मुझे डर नहीं लगता था। उस की आंखें, जो मुझे नहीं पहचानती थीं और फिर भी कभी-कभी मेरी ओर टिक जाती थीं, कहती थीं···मैं तुम्हारा ही बेटा हूं···और मैं उसे इतनी जोर से चूम लेती कि वह रोने लगता।

एक दिन ददा ने धुले कपड़े पहने और वालीपुर की ओर पैदल चल पड़े, जहां सिया का घर था। जाते-जाते कह गए—"फैसला कर के आहूं। मोर हिरना की जिन्दगी बरबाद कर के कहां जाही !"

वालीपुर दो मील के फासले पर था। वहां के लोग अकसर घूमते-घामते यहां तक आ जाते। सिया भी तो रोज आता था मुझ से मिलने। इतने दिनों तक मैं और ददा उस के लौटने का इन्तजार करते रहे थे लेकिन अब एक नया शक हमारे सामने आ खड़ा हुआ था। क्या मेरे कारण सिया अब कभी इधर न आएगा ? क्या वह इतना डर गया है ?

सुशीला के मोह के बन्धन भी तोड़ दिए उस ने ?

यदि ऐसा हुआ है, तो···

मैं अधमरी-सी हो गई।

यही हुआ था।

ददा शाम को लौटे—थके हुए। मैं ने धड़कते दिल से पूछा—"का हुआ ?"

वह चुप रहे। फिर बुदबुदाए—"सिया भाग गिस ! कायर ! ओकर (उस के) बाप तक को नहीं मालूम, वह कहां गिस ! मुंहजरा ! भड़वा !

मोरे बेटी को खा गिस, राच्छस !"—अश्लील गालियां गन्दे नाले की तरह उन के मुंह से बहने लगीं। मैं सुनती रही। मेरा चेहरा मोमी हो गया था। ददा के शब्द बदसूरत कनखजूरों की तरह मेरे कान में घुस रहे थे...

' तो सिया दानीपुर से ही नहीं, अपने घर से भी भाग गया है। उस के बाप को भी नहीं मालूम, उस का इकलौता बेटा कहां गया। मैं व्यंग्य से मन-ही-मन हंसी। वाह रे इश्क, कभी मेरे पांव चाटता था !

सिया का बाप मुझे गालियां न दे रहा होगा ? जरूर दे रहा होगा। उसे काफी दिनों से मेरे बारे में मालूम था—ददा को बालीपुर में पता चला था—और वह सिया को मेरे पास आने से रोकता भी था, बाद में सुसीला के पास आने से।

सुसीला को जब सिया के भागने का पता चला तो उपहास और व्यंग्य की रेखाएं उस के चेहरे पर दौड़ गईं। "अब तैं का करबे ?" —उस ने पूछा और मुझे घूरने लगी। मैं ने पल्लू ठीक किया और टांगों को इस तरह मोड़ लिया कि उभार कम नजर आए। "पता नहीं।" —मैं बुदबुदाई।

उस ने आसपास चौकन्नी दृष्टि फेरी, फिर पास सरक कर धीरे से पूछा—"बच्चा गिरावे ! परबन्द कर देंव ?"

मैं ने होंठ काटे। शायद थोड़ा खून भी आया। जी हुआ, इस हरामजादी का मुंह नोच लूं, इस की जबान काट लूं, आंखें निकाल लूं इस की। "नहीं।" —बस, इतना ही मैं बोल सकी।

"सोच लेबे।" —उस ने कहा—"इज्जत का सवाल हवै। तैं कह तो मैं तोर ददा से पूछ लौं। तोला पूछने में डर लगत होही।"

"सुसीला ! तैं चुपचाप हिया से चली जा।" —मेरी आंखें जलने लगीं। उस ने मेरी ओर यों देखा, जैसे मैं बहुत बड़ी बेवकूफ होऊं। धीमे से उठी, बाहर चली गई। मैं ने सुकला को अपने से चिपटाया और रो पड़ी। मेरी बाहों के कसाव से घबरा कर वह चीखने लगा।

रात भर मैं करवटें बदलती रही और उन धड़कनों को सुनती रही जो अब एक साथ दो जगह हो रही थीं। धप्प ! धप्प ! रह-रह कर मेरी कनपटी पर खून का दबाव इतना बढ़ जाता कि मुझे लगता, यह अभी फटी। मेरे डोरे दुखने लगे, क्योंकि मैं जबरदस्ती नींद लाने की कोशिश करती हुई पलकों को भींच रही थी। फिर से मेरे मन में मर जाने का विचार उठा। बच्चा गिराने से तो अच्छा है कि मैं ही···

उ आं···ऽ···ऽ !

उ आं···ऽ···ऽ !

मैं चौंकी। सुकली रो रहा था, पता नहीं क्यों रो रहा था।

वह जान तो नहीं गया, मैं क्या सोच रही हूं ?

मैं ने उसे भींचा और बुदबुदाई—"मैं कहीं नहीं जाहूं ! देख, मैं तोर पास हौं ! चुप, चुप रे चुप, ओ ओ !"

वह रोता गया और उस की हर चीख मेरे मरने के विचार को दूर भगाती गई···दूर···रोते-रोते वह मेरी गोद में सो गया और मैं सुबह तक उसे लिए वैसी-की-वैसी बैठी रही जिस से वह जाग न जाए।

नहीं, मैं नहीं मरूंगी। तो क्या बच्चा गिरवा···भीतर से कोई चीखा, मैं जिन्दा रहना चाहता हूं, ठीक तुम्हारी तरह। मुझे मारने का क्या हक है तुम्हें ?

मैं ने पूरी कोशिश की, इन अन्दरूनी चीखों को अनसुनी कर जाऊं, पर···हां, जब मैं जिन्दा रहना चाहती थी, तो किसी बेकसूर को मारने का मुझे क्या हक था ? मैं ने सुसीला की उन निगाहों को बार-बार याद किया जो मुझे भर्त्सना से देख रही थीं लेकिन जिन्दा रहने और जिन्दा रहने देने का निर्णय मैं न बदल सकी।

सुसीला अब एक नए शिकार को फांस रही थी। चालीस साल के एक गांठ के पूरे से, जिस की दो औरतें मर चुकी थीं, वह सौगातें ऐंठ रही थी। मेरी और उस की सोने की मुर्गी अब उड़ चुकी थी। सिया की वापसी के कोई आसार नहीं थे। उस का बाप सिर पर हाथ धर कर

रो रहा होगा, इकलौता बेटा भी ऐसा कपूत निकला। कई बार मैं मन-ही-मन कायर सिया को भद्दी गालियां देती, कभी वह मेरे सामने बड़ा दयनीय हो उठता।

लेकिन मुझे विश्वास था, वह जहा भी होगा, मुझे कभी न भुला सकेगा। जब तक वह मारा-मारा फिरेगा, उसे बराबर याद रहेगा कि वह क्यों भटक रहा है और इसके साथ ही उसे मेरी याद आ जाएगी। कई बार मैं उस के बारे में घंटों सोचती रहती, सोचती रहती। फिर एक दिन मुझे लगा कि मैं उसे प्यार करती हूं। सचमुच प्यार करती हूं। मुझे याद आने लगा, वह किस तरह कुछ-कुछ बेवकूफी के साथ मुसकराता था और मुझे चूमने के पहले किस तरह थोड़ा-सा झेंपता और शरमाता था। मुझे उस के हाथ याद आए, जो मुझे छूते समय शायद ही कभी बर्बर होते थे।

मैं ने सिया की उन कमजोर घड़ियों को भी माफ कर दिया जिन की निशानी वह मेरे पास छोड़ कर भाग गया था। मैं जानती थी, सिया के मितान (दोस्त) उसे उकसा कर भेजते थे कि एक जवान लड़की के साथ क्या करना चाहिए। मैं ने ईमानदारी के साथ सोचा तो लगा, उन कामुक पलों के लिए सिया कतई जिम्मेदार नहीं था। वे पल उस के नहीं थे, वह उन से बिल्कुल अपरिचित था। इसी से उन अपरिचित पलों के परिणाम ने उसे इतना डरा दिया कि वह भाग गया—मुझे छोड़ कर, बाप की सारी धन-दौलत छोड़ कर। कितना मासूम···दिन-ब-दिन मैं उस से ज्यादा प्यार करने लगी। कितनी विचित्र थी मैं। जब तक वह मेरे सामने रहा था, मैं केवल उस का मखौल उड़ाती रही थी। अब वह सामने नहीं था तो मैं उस से प्यार करने लगी थी। मैं मजबूर थी। चाह कर भी मैं उस से नफरत न कर पाई। पता नहीं, कहां भटकता होगा वह, कैसे जी रहा होगा वह !

फिर मुहल्ले में बात फूट गई। डोकियों ने छि-छि की। मुझे दिखा कर वे अपनी छोटी-छोटी टुरियों को सावधान करती कि देखो, उस के

पास मत फटकना, वह बदमास है, छिनाल है । उन्हें पता नहीं था कि इस तरह वे टुरियों को सावधान करने की बजाए उन्हें मेरी ओर कौतूहल से भर रही थीं । एक बार एक छोटी-सी बच्ची अकेले में मेरे पास आई और मेरे उभरे पेट को छू कर पूछने लगी—"एमें का हवै बहनी ? मोर (मेरी) दाई कहथै के एमां हवा भरे हवै ।" मैं ने किसी तरह उसे टाला और कोठरी में आ कर पड़ रही ।

क्या वह कभी नहीं लौटेगा ? जिस तरह मेरे भीतर जीयो और जीने दो की आवाजें उठती हैं, वैसी ही उस के भीतर भी तो उठती होंगी ?

ददा ने हर समय खामोश रहने की आदत बना ली थी । मैं उन के सामने कम-से-कम आती और वह मेरे सामने कम-से-कम आते । वह इतनी बीड़ी पीने लगे थे कि उन्हें खांसी हो गई थी । खांसना शुरू करते तो खांसते जाते, खांसते जाते । मैं उन्हें इतना धुआं पीने से मना करना चाहती लेकिन न कर पाती । कभी-कभी तो तीन-तीन, चार-चार दिन बीत जाते और हम दोनों में एक भी शब्द न बोला जाता । सुकली रोने लगता तो ददा यों बैठे रहते मानो उन के कान न हों । कई बार उन के चेहरे पर इतनी कठोरता आ जाती कि मुझे डर लगने लगता, वह किसी भी समय उठ कर मेरे पास आएंगे और मुझे पीटना शुरू कर देंगे । तब मैं जान बूझ कर सुकली को गोद में उठा लेती और ढाल की तरह छाती से दबा देती । तब मेरे स्तन दुखने लगते, क्योंकि उन के भीतर दूध बन रहा था और उन का आकार बढ़ने के लिए तन रहा था । कई बार ददा रात भर घर से गायब रहते और मैं अकेली किसी कोने में दबी रहती । सुकली सो जाता तो अकेलापन मुझे कुरेदने लगता और मेरा जी चाहता, किसी तरह सुकली को रुला दूं जिस से मुझे एहसास होता रहे कि कमरे में कोई है ।

ददा आलसी हो गए थे । बीड़ी के कारखाने में उन की तरक्की होने वाली थी जो अब रोक दी गई थी । ददा को इस का कोई गम नहीं था ।

उन की आंखें चढ़ी-चढ़ी रहती और उन के कोए इस तरह हिलते मानो वह उल्लू हो।

रात-भर मुकली सोता रहा और मैं ददा का इंतजार करती रही। अकेली रात मेरा पीछा छोड़ कर विदा हुई, लेकिन ददा नही आए। कल दिन भर चूल्हा नही जला था। कल मुकली का दूध मैं पड़ोसन के यहां गरम कर आई थी।

आज दूध खरीदा नही जा सकता था, क्योंकि मेरे पास पैसे नही थे। सुबह मुकली उठा और रोने लगा। मैं ने उसे चुप न किया। कई दिनों से तेल न पड़ने के कारण मेरे बाल भूरे हो गए थे। मुकली भूख से परेशान था और उस के रोने पर मैं ने ध्यान न दिया तो वह इतनी जोर से चीखने लगा कि मुझे अचरज हुआ, इस के छोटे-से फेफड़े में इतनी लम्बी सांस कैसे आती है। उस का चेहरा लाल हो गया और गला बैठने लगा। मैं ने अपना दूध निकालने की कोशिश की लेकिन दूध अभी उतना नही बना था। रोने की आवाज मुझे चिढ़ा रही थी और खुद मुझे ही रोने का मन होने लगा था। घबरा कर मैं ने मुकली को गोद में उठा लिया और अपना सूखा स्तन ही उस के मुंह मे दे दिया। उस ने चबर-चबर मुंह चलाया लेकिन चमड़ी का खारा स्वाद दो पल भी उस का मन न बहला सका।

मेरे मुंह से सिसकारी निकल गई। मुकली ने मुझे काट लिया था। मैं ने उसे गोद से उतार कर नगी जमीन पर रख दिया और गालिया देने लगी। वह रो उठा। उस की नस हर सास के साथ फूल कर उभर आती और मुझे इतना गुस्सा आया कि मैं ने उस के पेट पर जोर की चुटकी काट ली। उस का मुह खुला और एक लम्बी चीख निकल गयी। मैं डर गई कि कही मुकली की चढी सांस उतर ही न पाए और वह यही —मेरे सामने, मेरी चिकोटी के कारण मर जाए। फिर वह लम्बी चीख रुक गई लेकिन मुकली नई सांस न ले पाया। उस का मुह उसी तरह खुला था और आखें उसी तरह बन्द थीं। यदि उस के पाव थोड़ा-थोड़ा हिल

न रहे होते तो वह बिल्कुल मुर्दा मालूम पड़ता । एक खरखराहट के साथ उस की चढ़ी हुई सांस उतरी लेकिन फिर से चढ़ गई । मैं रो पड़ी ।

दोपहर जवान हुई ही थी कि बूढ़ी हो गई । ददा अभी तक गायब थे । मैं कई घंटों से एक ही जगह पर बैठी थी और मेरे दाहिने पैर के अंगूठे ने कच्चे फर्श पर खरोंच-खरोंच कर गड्ढा कर दिया था । वैसे भी कई दिनों से गोबर का पानी न पड़ने के कारण जगह-जगह से फर्श की परतें उघड़ गई थीं और पूरा कमरा यों लग रहा था मानो यहां अरसे से कोई न बसा हो ।

शाम ढली । ढीबरी में तेल नहीं था । तेल होता तो भी उसे जलाया कैसे जाता, क्योंकि माचिस नहीं थी । अंधेरा घिरता गया । हाथ बढ़ा-बढ़ा कर वह मुझे छू रहा था । मैं ने दरवाजा और खिड़कियां बंद कर दीं ताकि अंधेरा और काला हो जाए । दिन-भर की उदासी और पिछली रात की उखड़ी नींद के कारण मेरा सिर घूम रहा था । सुकली रो-रो कर सो गया था । काश, मैं इन दिनों भी खूब कमाती होती ! तब मैं सुकली के लिए दूध खरीद पाती ।

रात करीब नौ बजे दरवाजा खुला और ददा भीतर आए । उन के कदम लड़खड़ा रहे थे । उन्होंने पूछा भी नहीं कि भीतर अंधेरा क्यों है ! टटोल कर उन्होंने खाट बिछाई और उस पर जा गिरे ।

मैं उठ कर करीब गई । शराब की बू मेरी नाक तक आई और मैं चौंक पड़ी । कांपती आवाज में मैं ने पूछा—"तें सराब पी हस ?"

ददा खिलखिला पड़े । मैं सहम कर पीछे हट गई ।

"बोल, बोल, मैं सराब नहीं पी हौं ।" वह मेरी ओर बढ़े, "बोल ! मैं कहथौं, बोल !"

हिरना तो मर चुकी थी···आज ददा भी···

"बोलत हस या नहीं ?" —वह इतनी जोर से चीखे कि पीछे हटने की कोशिश में मैं लड़खड़ा गई । किसी तरह मैं बुदबुदाई, "तें नहीं···पी हस···"

वह बहुत खुश हो गए और पागल की तरह मेरी पीठ यों ठोंकने लगे मानो मेरी पिटाई कर रहे हों। फिर वह खाट पर बैठे और बीड़ी सुलगाने लगे। रच से माचिस की तीली सुलगी जिस की पीली रोशनी में मैं ने उन का चेहरा देखा। क्या यह ददा ही हैं ? मेरे ददा ? उन्होंने तम्बाकू के चार-पांच कश लिए होंगे कि उन्हें कै हो गई। हवा में घिनौनी बू भर उठी। मेरा जी हुआ, बाहर भाग जाऊं, लेकिन डर भी लगा, कहीं ददा पकड़ कर पीटना शुरू न कर दें। दीवार से पीठ टिका कर घिसटती हुई मैं नीचे बैठ गई। आंखें फट रही थीं।

३४

आ···

आ···तू आ···फिर मैं मर जाऊंगी—जैसे मेरी दाई मरी थी। मेरी केवल एक चाह है—मरने से पहले तेरी सूरत देख लूं। सौरी कराने आई डौकियों में से कोई एक तुझे साफ-सुथरा कर के मेरे पास लाए और कहे, "देख, यह तोर वेटा हवै।" मैं थोड़ा-सा मुसकराऊं, तुझे देखूं, हाथ वढ़ा कर तुझे छू लूं, हो सके तो चूमूं—फिर मर जाऊं।

मेरे मरने के वाद तेरा जाने क्या होगा। तू और सुकली···तुम दोनों छोटे-छोटे···ददा तुम्हारी परवाह नहीं करेंगे···या शायद वह वहुत ज्यादा परवाह करेंगे और शराव पीना छोड़ देंगे। तुम दोनों को पालेंगे, वड़ा कर के पढ़ाएंगे, पैसा कमाना सिखाएंगे···

शिस्स! पैसा···चूहे के दांत···तू चूहे के दांत का वेटा···आ···आ···

मेरा पेट घड़े की तरह हो गया था। वाजार में घड़ा खरीदते समय लोग किस तरह वजा-वजा कर देखते हैं! मैं भूल कर भी किसी के सामने नहीं आती। सव की आंखें मेरे पेट पर उंगलियों की तरह पड़ती हैं जो विच्छू के डंक की तरह वीच से मुड़ कर घड़े का पक्कापन टंकारती हैं··· ठक-ठक···टन्न···कित्त का है?···किस का है?···किस का है···वोल, कहां है?···वोल···क्या कहूं? कहां जाऊं मैं?

⊙

मेरी खाट के ऊपर छत से तीन-चार रस्से लटक रहे थे। खाट पर चित लेटी मैं उस के आने का इंतजार कर रही थी। दर्द की लहरें पेट से उठ कर सारे जिस्म को थरथरा देतीं और मैं दुहरी होने लगती। पास तीन डौकिया खड़ी थीं जो मेरे कन्धों को खाट के गद्दे से दवा देतीं और वुदवुदातीं—धीरज धर नोनी, उखाड़-पछाड़ झन मत कर।"

जब मेरी ऐंठन इतनी बढ जाती कि मेरे कन्धे उन के दवाव में न रहते तो उन लटकते रस्सों में से कोई दो मुझे थमा दिए जाते। मैं सारी ऐंठन रस्सो पर डाल देती और चीख रोकने के लिए होंठ चबा डालती, पलकों को यो मीच लेती जैसे उन्हे कोयों के भीतर तक उतार डालूंगी और महसूस करती कि मैं मर रही हूं···

पेट के भीतर हरकतें हो रही थी। वह नीचे आ रहा था और मैं जानती थी, मैं नही बचूंगी। बचना भी क्यों चाहिए मुझे? मिया पता नही कहां है।

जब यह बड़ा हो जाएगा तो पूछेगा, "मोर ददा कौन हवै ?"

तब मैं···तब मैं···

कमरे की सारी खिड़कियां और दरवाजे बन्द कर दिए गए थे। भीतर कण्डो का नीला धुआ भरा था जिस से मुझे खांसी आने लगती। मेरी आखों से आसू निकलने लगे थे और नाक बन्द हो गई थी। मैं मुह से सांस ले रही थी और घोड़ी की तरह हांफ रही थी। कितनी देर है? और कितनी···

उफ, दर्द की यह गर्म लहर···मैं ने सहन करने की लाख कोशिश की लेकिन मुह खुल गया और बरसाती नाले की तरह चीख बेकाबू हो गई। जब वह रुकी, मेरा गला यों जल रहा था जैसे छाले पड़ गए हों। मैं ने उसे तर करने के लिए थूक निगलना चाहा लेकिन मुह मे थूक भी नही था। मैं ने आखें झपकाईं, क्योंकि वे भर आई थी और मुझ पर झुकी डौकिया भूतनिया लग रही थी। गर्म आंसू दोनों से गिरे···गालों पर उबलती गीली लकीर···

दर्द की गर्म लहर···छत कापने लगी···लगा, अभी मेरे चिथड़े हो जाएगे···

क्या मरने से पहले उसे मैं देख भी नही···कांपती छत···पिघलती छत···बहती छत···मैं कहां हूं?···

⊙

कहीं से मैं वापस आई···खुलती आंखें···आंखों के सामने किन्हीं दो हाथों में दो वालिश्त का रेशमी कोई···मेरी भीगी पलकें···और फिर से कांपती छत···पिघलती छत···

⊙

"फिर मैं ने ओकर (उस की) खूब पिटाई की !" —ददा मुसकराते हुए कह रहे थे। आज कई महीनों बाद वह बाजार से लौटते समय आध सेर दूध लाए थे। सौरी में मैं काफी कमजोर हो गई थी लेकिन ददा ने मेरी कोई फिक्र नहीं की थी। पड़ोसियों ने ही मुझे हलवा बनाकर खिलाया था और बच्चे की मालिश करने के लिए नाइन का इन्तजाम किया था। सौरी के बाद पड़ोस की डौकियां इतनी बदल गई थीं—मेरे लिए इतनी दयालु हो गई थीं—कि मुझे सहसा विश्वास ही नहीं होता था, ये वही डौकियां हैं जिनकी आंखें मेरे उभरे पेट को यों घूरती थीं जैसे मैं नंगी घूम रही होऊं। उन सब ने ददा को चुन-चुन कर गालियां दी थीं, क्योंकि उन्होंने सुकली के नए दोस्त को, जिसे वह सिद्धू कहने लगे थे, केवल उड़ती निगाह से देखा था और गाल पर एक बार बस यूं ही छू लिया था और प्यार से उसे एक बार थपथपाया नहीं था।

एक खिलौने जैसी छोटी चारपाई पर सुकली और सिद्धू पड़े रहते। सिद्धू गुलाबी था, बहुत सीधा था, जरूरत पड़ने पर ही रोता था और जागते हुए भी जैसे सोता रहता था।

सिया···कोई जा कर उसे बता दे, तेरे एक बेटा हुआ है। वह आएगा, जहां भी होगा, आएगा···कहां है, कहां है मेरा···

रोज सुबह आठ बजे नाइन आती। अपनी टांगें मिला कर वह आगे कर देती और उन पर सिद्धू को सुला कर तेल की मालिश करती। सिद्धू रोता और उस का चेहरा गुलाबी से लाल हो जाता और नाइन खुश हो कर "ओ रे ओ !" करती और चुमकारती। मालिश के बाद वह सुलगती अंगीठी पर हथेलियां रख कर उन्हें गर्म करती और चप से सिद्धू के जिस्म से दबा देती। सिद्धू के बाद सुकली की बारी आती। नाइन मेरा

जी बहलाने के लिए तरह-तरह की बातें करती लेकिन कभी भी सिया का जिक्र न छेड़ती। वह मुझे बहुत समझदार मालूम पड़ती। बड़े-बड़े घरों में उस का आना-जाना था और वहां के बड़े-बड़े रहस्य उस के पास थे जिन्हें वह आधे बताती, आधे छोड़ देती और "जमाना अब्बड़ (बड़ा) बुरा हवै !" कह कर झेंपती हुई हंसने लगती।

आज ददा आध सेर दूध लाए। पहले मैं ने सोचा, शायद यह मेरे लिए हो लेकिन ददा ने लोटा मेरी ओर बढ़ा कर कहा, "चल मोनी, जल्दी गरम कर। पी कर कसरत करहूं।"

मैं ने लोटा लेते हुए उन के सींकिया शरीर की ओर देखा। कसरत करहूं ! दो दंड लगाएं तो दम निकल जाए'''मैं समझ गई, पी कर आए हैं, बक रहे हैं। उन की आंखें लाल थीं और चमक रही थीं। मैं दूध गरम करने लगी। वह खाट पर बैठ गए। बीड़ी सुलगाने के लिए की गई तीली की 'खच' मैं ने सुनी।

दूध पी कर उन्होंने अपनी कोहनी के ऊपर से कमीज की बांह हटा दी और मेंढक निकालते (मसल्स फुलाते) हुए बोले, "देख, कित्ता पहलवान हौं। मैं ने ओकर (उस की) खूब पिटाई की।"

जाने किस से लड़ कर आए हैं, मन-ही-मन मैं कुढ़ी और चुप रही।

ददा मुसकराने लगे, बाजार मे वह दिखाई पड़ गिस। गधा कहीं का ! उल्लू ! मैं ने सोचा था, मुझे देखते ही मुंह छुपाने लगही, लेकिन कमबिखत वैसे का वैसा खड़ा रहिस।"

मैं रसोई मे चली गई। वहां कोई काम नही था, लेकिन ददा के सामने बैठ कर उन की बकवास सुनने से यही अच्छा था। मैं चाहती थी, कोई ऐसा उपाय किया जाए कि उनकी आवाज रसोई में न घुसे, लेकिन यह कैसे हो सकता था। सहसा वह जोर से खिलखिला पड़े। उन्होंने मुझे पुकारा लेकिन मैं ने जवाब न दिया। फिर मैं ने देखा कि वह रसोई के दरवाजे पर आ कर खड़े हो गए हैं। उन के दोनों हाथ दरवाजे की ऊपर की कोर पकड़े हुए थे। शरीर का पूरा वजन बाईं टांग पर डाल कर दाहिनी को

उन्होंने ढीली छोड़ दिया था। मैं ने उन की ओर उड़ती निगाह से देखा।

"नोनी, तें पूछवै नहीं, मैं काला (किस को) मारे हौं ?"

गुस्से से मेरा चेहरा तमतमा आया। होगा कोई शराबी मितान (दोस्त)। कर ली होगी मारपीट।

"वह चुपचाप मार खात रहिस और मैं मारत रहेंव। पापी, भड़वा! कहत रहिस, माफ कर दो। हुंह, माफ कर दो!" और वह फिर से मुस-कराने लगे।

"बोल, ओकर (उस का) नाम का रहिस ? बोल ?"

"ददा, जा के सो जाओ।"—मैं रूखी आवाज में केवल इतना बोली।

आज्ञाकारी बच्चे की तरह वह चले गए और खाट पर जा गिरे।

मैं कोफ्त से भरी हुई थी। आध सेर दूध लाए, गटगटा कर पी गए! झूठ भी न पूछा, 'तें पीबे ?' ददा के लिए मैं मर चुकी।

उन का बड़बड़ाना जारी था, "कहता था, घर आहूं। मैं बोला, क्यों आवे ? मर वहां, जहां मरा था। घोंचू कहीं का!"

घोंचू!

दिमाग की कई नसें झनझना उठीं। मैं नहीं चाहती थी, पुरानी यादों से परेशान होऊं। मैं उठी और दीवार में बनी छोटी-सी अलमारी खोल कर बर्तन उलटने-पलटने लगी।

"हीरना!" ददा ने पुकारा।

"हीरू! सुनत नहीं हस का ?" अब की उन के कहने में चिढ़ने की झलक थी।

"का हवै ददा ?"

"इधर आ।"

मन-ही-मन उन्हें कोस कर मैं रसोई से बाहर निकली और सामने खड़ी हो गई। वह बोले, "बता जिस को मैं ने मारा, वह कौन रहिस।"

"होही कोई मरा।"

"मरा नहीं, जिन्दा रहिस। ओकर नाम रहिस सिया···" और वह

जोरों से खिलखिला पड़े ।

मैं कांप गई । क्या···

मेरी नसें···

झन !

मेरे हाथ की थाली नीचे गिर पड़ी और गोल-गोल नाचने लगी। उस की थिरकन बढ़ती गई, फिर वह धीमे-धीमे चुप हो कर लेट गई ।

क्या···क्या सिया लौट आया ?

ददा केवल बक तो नही रहे ?

उफ !

बिल्कुल अचानक वह चुप हो गए थे । उन्होंने खाट पर पसर कर सिर से पांव तक चादर ओढ ली थी और जरा भी हिल-डुल नही रहे थे। दौड़ कर मैं ने उन के सिर से चादर हटाई ।

वह मुसकराने लगे ।

फिर वह उछल कर खाट से नीचे आ गए और मुझे प्यार से गालियां देने लगे कि तू कित्ती अच्छी है, तेरी तकदीर कित्ती अच्छी है। वह खिलखिलाने लगे और सिद्धू को हाथ में ले कर, बिना इस की परवाह किए कि वह डर कर चीखने लगा है, उछाल-उछाल कर दुलारने लगे ।

मेरा चेहरा लाल हो गया। फिर मेरी शर्म का एक-एक कतरा पिघल कर बह गया । सिया···वह घर आएगा···तब मैं उस का स्वागत किन शब्दों में करूंगी ? बड़ी उलझी हुई बात थी यह और मेरा चेहरा वैसा ही हो गया जैसा कई दर्जन मेमनों की मां बकरी का होता है ।

रात को दरवाजे की साकल हल्के से खड़की और मैं जान गई, सिया आ गया है । ददा आराम से चारपाई पर लेटे थे । उन्होंने आंखें खोल कर दरवाजे की तरफ देखा, लेकिन उठने की जरूरत न समझी । मैं आगे बढ़ी । दरवाजा खोलते समय, आशा के ठीक विपरीत, मेरे हाथ जरा भी न कांपे । आत्मविश्वास और भविष्य के निश्चित जीवन की आशा ने कंपकंपी को दूर कर दिया था। दरवाजा खोल कर मैं चुपचाप खड़ी रही।

मेरे सामने सिया था और मैं उसे ताक रही थी। सिया के बाल बिखरे हुए थे। कन्दील की पीली रोशनी उस के चेहरे पर पड़ रही थी। मुझे लगा, इस चेहरे पर खास किस्म का पकाव आ गया है जो पहले नहीं था।

वह मुसकराया और मुझे एक ओर हटाता हुआ लम्बे डग भर कर भीतर आ गया। सुकली और सिद्धू एक गुदड़ी पर सो रहे थे। वह उन की ओर यों बढ़ गया मानो पहले से जानता हो, वे कहां सो रहे हैं। वह घुटनों के बल बैठ कर उन पर झुका, फिर गहरी सांस भर कर उन पर गिर पड़ा। शायद उसने सोचा हो, सुकली और सिद्धू जुड़वां बच्चे हैं।

नींद से चौंक कर तथा सिया की भींचन से घबरा कर सुकली और सिद्धू रोने लगे।

◉ ◉ ◉